□ स्वाध्याय-सुमन

[नित्य स्वाध्याय एव प्रात स्मरण योग्य स्तोत्र सग्रह]

□ दिशा निर्देशन—शासनसेवी श्री बृजलालजी महाराज

□ सम्पादिका—महासती उम्मेदकुवरजी

□ प्रावकथन—श्री विनय मुनि

□ प्रकाशक

मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

पीपलिया बाजार, ब्यावर

□ अर्थ सौजन्य

एक गुप्त दानी सद्गृहस्थ

□ प्रथमावृत्ति

वि० स० २०३४ पौष

जनवरी १९७८

□ मूल्य

चार रुपया लागत मात्र

□ मुद्रक

श्रीचन्द सुराना के लिए

शैल प्रिन्टर्स, माईथान, आगरा-३

प्राक्कथन

प्रभु महावीर का उपदेश है—सज्झायम्मिरओ सया—सदा स्वाध्याय मे लीन रहो। स्वाध्याय महान तप है और उससे सचित कर्मो के दल यो बिखर जाते हैं जैसे तेज पवन से बादल! स्वाध्याय से जीवन मे शान्ति, शक्ति और तेज प्राप्त होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी व्यक्ति को स्वाध्याय मे अधिक से अधिक लीन रहना चाहिए।

प्रस्तुत स्वाध्याय-सुमन अपने ढग का एक अनूठा सग्रह है। इसमे नित्य स्मरणीय स्तोत्र, अन्वय, भावार्थ तथा हिन्दी पद्य के साथ सकलित किये गये हैं। इसके स्वाध्याय से अल्प ज्ञान वाला व्यक्ति भी स्तोत्र का भावार्थ समझकर उसका स्मरण व पाठ कर सकता है। स्तोत्र का अर्थ समझकर स्मरण करने मे आनन्द व तन्मयता कुछ अनूठी होती है।

परम श्रद्धेय गुरुदेव शासनसेवी श्री व्रजलाल जी महाराज एव उपाध्याय श्री मधुकर मुनि जी महाराज के दिशा निर्देश से विदुषी महासती श्री उम्मेद-कुवर जी ने यह सग्रह तैयार किया है। उनकी व्यापक सुरुचि व स्वाध्याय-शीलता का ही यह फल है कि विविध स्थानो से स्तोत्र आदि चुनकर उन्होने एकत्र कर स्वाध्याय-योग्य सुमनो की यह माला तैयार कर दी है। विद्वद् वरेण्य प० श्री हीरालाल जी शास्त्री का सहयोग तो इस कार्य मे सदा स्मरणीय ही रहेगा। उनकी श्रुत भक्ति व सरल-सात्विक-भावना प्रशसनीय है।

मुझे पूर्ण विश्वास है, इस स्तोत्र सग्रह से सभी श्रेणी के श्रद्धालु लाभान्वित होंगे।

—विनय मुनि

विषय-सूची

स्वाध्याय-सुमन

आदिनाथ स्तोत्र

[भक्तामर स्तोत्र]

भक्तामर - प्रणत - मौलिमणि-प्रभाणा—
मुद्योतक दलित-पाप - तमो - वितानम् ।
सम्यक्प्रणम्य जिन - पाद-युग युगादा—
वालम्वन भवजले पतता जनानाम् ॥१॥

अन्वयार्थ .

भक्त—	भक्तिमान्
अमर—	देवो के
प्रणत—	नम्रीभूत
मौलि—	मुकुटों के
मणि—	मणियों की
प्रभाणाम्—	प्रभा को
उद्योतकम्—	प्रकाशित करने वाले
पाप—	पापरूप
तमो—	अन्धकार के
वितानम्—	विस्तार को
दलित—	नष्ट करने वाले
भवजले—	ससार रूप समुद्र मे
पतता—	गिरते हुए
जनानाम्—	जीवों को
युगादौ—	युग की आदि मे (कर्मभूमि के प्रारम्भ मे)

आलम्वनम्—	सहारा देने वाले
जिन-पादयुग—	श्री ऋषभजिन के चरण-युगल को
सम्यक्—	भलीभाँति से
प्रणम्य—	प्रणाम करके

भावार्थ—कर्म भूमि के प्रारम्भ मे भूख-प्यास से पीडित प्रजा को जिसने उसके निवारण का मार्ग दिखाया, और धर्म का उपदेश देकर पाप के प्रसार को रोका, अत भक्ति-युक्त देवो ने आकर उनके चरण-कमलो को नमस्कार किया। उस समय भगवान के चरणो के नखो की कान्तिसे देवो के मस्तको के मुकुटो मे लगी हुई मणियाँ और भी अधिक चमकने लगती थी। ऐसे जिनेन्द्र के चरणो मे प्रणाम करके मैं उनकी स्तुति-करूँगा।

हिन्दी पद्य . है भक्त देव नत मौलिमणि-प्रभा के,
उद्योतकारक विनाशक पाप के हैं।
आधार जो भव - पयोधि पडे जनो के,
अच्छी तरा नमि उन्ही प्रभु के पदो को ॥१॥

※

य मस्तुत सकल - वाङ्मय - तत्व - वोधा—
दुद्भूत - वुद्धि - पटुभि सुर - लोक - नाथै ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय - चित्त - हरैरुदारै
स्तोष्ये किलाऽहमपि - त प्रथम जिनेन्द्रम् ॥२॥

अन्वयार्थ :

सकल—	ममस्त
वाङ्मय—	द्वादशाङ्ग रूप जिनवाणी के
तत्व वोधात्—	परम रहस्य के परिज्ञान से
उद्भूत—	उत्पन्न हुई
वुद्धि पटुभि—	वुद्धि की कुशलता वाले
सुरलोकनाथै.—	देवलोक के स्वामी इन्द्रो के द्वारा

जगत्-त्रितय—	तीन जगत के
चित्तहरैं —	चित्त को हरण करने वाले
उदारैं —	महान्
स्तोत्रै.—	स्तोत्रो से
य —	जो ऋषभदेव
सस्तुत —	सम्यक् प्रकार स्तवन किये गये (ऐसे)
तम्—	उन
प्रथमम्—	प्रथम
जिनेन्द्रम्—	जिनेन्द्र तीर्थंकर का
किल—	निश्चय से
अहम् —	मैं मानतुङ्ग
अपि—	भी
स्तोष्ये—	स्तवन करूँगा

भावार्थ—जिन प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का स्तवन समस्त वाङ्मय के वेत्ता इन्द्रो ने तीन लोक के जीवो के चित्त को हरण करने वाले सुन्दर-सुन्दर शव्द-युक्त स्तोत्रो मे किया था, उनका स्तवन मैं मानतुङ्ग (आचार्य) भी करूँगा।

हिन्दी पद्य श्री आदिनाथ विभु की स्तुति मैं करूँगा,
की देव-लोक-पतिने स्तुति है जिन्हो की।
अत्यन्त सुन्दर जगत्-त्रय-चित्त-हारी,
सुस्तोत्र से सकल-शास्त्र रहस्य पाके ॥२॥

※

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चित - पाद - पीठ,
स्तोतु समुद्यत - मतिर्विगत - त्रपोऽहम्।
बाल विहाय जल-सस्थितमिन्दुविम्व—
मन्यः क इच्छति जन सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

अन्वयार्थ

विबुध—	देवो के द्वारा
अर्चित—	पूजित है
पादपीठ—	चरण रखने का आसन जिनका, ऐसे हैं जिनेन्द्र देव
वुद्ध्या—	वुद्धि से
विना अपि—	विना भी
अहम्—	मैं मानतुग
स्तोतुम्—	आपकी स्तुति करने के लिए
समुद्यतमति.—	उद्यत वुद्धि हुआ हूँ। (क्योकि)
वालम्—	वालक के
विहाय—	सिवाय
अन्य.—	अन्य
क —	कौन
जन'—	मनुप्य
जल-सस्थितम्—	जल मे स्थित
इन्दुविम्वम्—	चन्द्रमा के प्रतिविम्व को
सहसा—	एकाएक
ग्रहीतुम्—	पकडने के लिए
इच्छति—	इच्छा करता है

भावार्थ—हे भगवन् ! आप देवो के द्वारा वन्दनीय है, और मैं वुद्धि-विहीन हूँ। किन्तु फिर भी धीठ होकर आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। जल मे पडे हुए चन्द्रमा के प्रतिविम्व को पकडने के लिए वालक के सिवाय और कौन इच्छा कर सकता है ? कोई भी नही।

हिन्दी पद्य हूँ बुद्धिहीन, फिर भी वुध - पूज्य - पाद,
तैयार हूँ स्तवन को निर्लज्ज हो के।

है और कौन जग मे तज वाल को जो,
लेना चहे सलिल - सस्थित - चन्द्र - विम्व ॥३॥

※

वक्तु गुणान् गुण - समुद्र ! शशाककान्तान्,
कस्ते क्षम सुर - गुरु - प्रतिमोऽपि वुद्धया ।
कल्पान्त - काल - पवनोद्धत - नक्र - चक्र,
को वा तरीतु - मलमम्बु - निधि भुजाभ्याम् ॥४॥

अन्वयार्थ

गुणसमुद्र—	हे गुणो के सागर !
ते—	तुम्हारे
शशाङ्क—	चन्द्रमा के समान
कान्तान्—	उज्ज्वल
गुणान्—	गुणो को
वक्तु—	कहने के लिए
बुद्ध्या—	वुद्धि से
सुर-गुरु—	देवो के गुरु वृहस्पति के
प्रतिम'—	सदृश
अपि—	भी
क —	कौन
क्षमः—	समर्थ है ?
कल्पान्तकाल—	प्रलयकाल की
पवन—	प्रचण्ड वायु से
उद्धत—	उछलते हुए
नक्रचक्रम्—	मगर - मच्छो से युक्त
अम्बुनिधिम्—	समुद्र को
भुजाभ्याम्—	दो भुजाओ से
तरीतुम्—	तैरने के लिए
को वा—	कौन पुरुप
अलम्—	समर्थ हो सकता है ? (कोई भी नही ।)

भावार्थ—हे भगवन् ! चन्द्र के समान निर्मल आपके अनन्त गुणो का वर्णन कौन कर सकता है ? भले ही वह बुद्धि मे बृहस्पति के समान भी क्यो न हो ? प्रलय काल की प्रचण्ड वायु से उछलते हुए मगर-मच्छादि वाले भयानक समुद्र को अपनी भुजाओ से पार करने के लिए कौन सामर्थ्य रखता है ? अर्थात् कोई भी ऐसे भयानक समुद्र को भुजाओ से पार नही कर सकता ।

हिन्दी पद्य
होवे बृहस्पति - समान सुबुद्धि तो भी,
है कौन जो कह सके तव सद् - गुणो को ।
कल्पान्त - वायु - वश सिन्धु अलघ्य जो है,
है कौन जो तिर सके, उसको भुजा से ।।४।।

※

सोऽहं तथापि तव भक्ति - वशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगत - शक्तिरपि प्रवृत्त ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्र,
नाभ्येति किं निज - शिशो परिपालनार्थम् ।।५।।

अन्वयार्थ

मुनीश—	हे मुनियो के ईश्वर !
तथापि—	तो भी
स अहम्—	वह मैं
विगतशक्ति—	शक्ति-रहित
अपि—	भी
तव—	तुम्हारी
स्तव—	स्तुति
कर्तुं—	करने के लिए
भक्तिवशात्—	भक्ति के वश से
प्रवृत्त—	प्रवृत हुआ हूँ ।
मृग—	हरिण

आत्मवीर्यम् —	अपनी शक्ति को
अविचार्य —	नही विचार करके
प्रीत्या —	प्रीति के वश से
निजशिशो' —	अपने शिशु को
परिपालनार्थं —	वचाने के लिए
किम् —	क्या
मृगेन्द्रम् —	सिंह के सन्मुख
न अभ्येति —	नही जाता है ? अर्थात् जाता है ।

भावार्थ--हे भगवन् ! जैसे हरिण मे शक्ति नही होने पर भी प्रीति के वश अपने वच्चे को वचाने के लिए वह सिंह का सामना करता है । उसी प्रकार शक्ति के नही होने पर भी भक्ति के वश से मैं आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ । इसमे आपकी भक्ति ही प्रधान कारण है ।

हिन्दी पद्य हूँ शक्ति - हीन, फिर भी करने लगा हूँ,
तेरी प्रभो ! स्तुति, हुआ वश भक्ति के मैं ।
क्या मोह के वश हुआ शिशु को वचाने,
है सामना न करता मृग सिंह का भी ॥५॥

※

अल्प - श्रुत श्रुतवता परिहास - धाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते वलान्माम् ।
यत्कोकिल किलमधौ मधुर विरौति,
तच्चाम्र - चारु - कलिका - निकरैक - हेतु ॥६॥

अन्वयार्थ

अल्पश्रुतं —	अल्प शास्त्रो का ज्ञाता पुरुष
श्रुतवतां —	वहु शास्त्रो के ज्ञाता पुरुषो की
परिहास-धाम —	हँसी का पात्र होता है । (फिर भी)
त्वद्-भक्ति —	आपकी भक्ति

एव—	ही
माम्—	मुझे
बलात्—	बलपूर्वक
मुखरी कुरुते—	वाचाल (प्रेरित) कर रही है।
कोकिल —	कोयल
किल—	निश्चय मे
मधौ—	वसन्त ऋतु मे
यत्—	जो
मधुर—	मधुर
विरौति—	शब्द बोलती है
तत् च—	उसमे
आम्र—	आमकी
चारु कलिका—	सुन्दर मजरी का
निकरैकहेतुः—	समुदाय ही एक मात्र कारण है।

भावार्थ—हे भगवन्! जैसे वसन्त ऋतु मे आम की मजरी का निमित्त पाकर कोयल मीठे वचन बोलती है। उसी प्रकार मैं भी आपकी भक्ति का निमित्त पाकर आपकी स्तुति करने के लिए वाचाल हो रहा हूँ। अन्यथा अल्पज्ञानी पुरुष महाज्ञानियो के सामने बोलने पर हँसी का पात्र होता है।

हिन्दी पद्य हूँ अल्पबुद्धि बुध मानव की हँसी का,
हूँ पात्र, भक्ति तव है मुझको बुलाती।
जो बोलता मधुर कोकिल है मधू मे,
है हेतु आम्र - कलिका बस एक उसका ॥६॥

※

त्वत्सस्तवेन भव - सन्तति - सन्निबद्ध,
पाप क्षणात्क्षयमुपैति शरीर - भाजाम्।
आक्रात - लोकमलि - नीलमशेषमाशु,
सूर्यांशु - भिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥

अन्वयार्थ

त्वत्संस्तवेन—	आपके स्तवन से
शरीर भाजाम्—	शरीर धारी प्राणियो के
भवसन्तति—	अनेक भवो की परम्परा मे
सन्निवद्धम्—	वँधे हुए
पापं—	पाप
क्षणात्—	क्षणभर मे
क्षयम्—	क्षय को
उपैति—	प्राप्त हो जाते हैं ।
आक्रान्तलोकम्—	लोक मे व्याप्त
अलिनीलम्—	भौरे के समान काला
शार्वरम्—	रात्रि का
अन्धकारम्—	अन्धकार
आशु—	शीघ्र
सूर्यांशुभिन्नम्—	सूर्य की किरणो से छिन्न-भिन्न हो जाता
इव—	जैसे

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणो से रात्रि का अन्धकार शीघ्र समूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार हे भगवन्! आपकी स्तुति करने से प्राणियो के असख्य भवो मे वंधे हुए पाप-कर्म भी क्षण भर मे सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ।

हिन्दी पद्य तेरी किये स्तुति विभो! बहु जन्म के भी,
होते विनाश सब पाप मनुष्य के हैं ।
भौरे समान अति [illegible] ज्यों अँधेरा,
होता विनाश रवि के कर से निशा का ।।७।।

मत्वेति नाथ ! तव संस्तवनं मयेद—,
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात् ।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनी-दलेषु,
मुक्ता-फल-द्युतिमुपैति ननूद-बिन्दु ॥८॥

अन्वयार्थ

हे नाथ !—	हे स्वामिन् !
इति मत्वा—	ऐसा मानकर
तनुधिया —	अल्प बुद्धि
अपि—	भी
मया —	मेरे द्वारा
इद—	यह
तव—	तुम्हारा
संस्तवनम्—	स्तवन
आरभ्यते—	प्रारम्भ किया जा रहा है ।
तव—	आपके
प्रभावात्—	प्रभाव से (यह स्तवन)
सतां—	सज्जनों के
चेत —	चित्त को
हरिष्यति—	हरण करेगा
ननु—	निश्चय से
उदबिन्दु.—	जल की बूंद
नलिनीदलेषु—	कमलिनी के पत्तों पर
मुक्ताफल—	मुक्ताफल (मोती) की
द्युतिम्—	कान्ति (शोभा) को
उपैति—	प्राप्त होती है ।

भावार्थ—जैसे कमलिनी के पत्तो पर पडी हुई जल की बूंद भी उन पत्तो के प्रभाव से मोती के समान शोभा पाती है, उसी प्रकार मेरा यह साधारण स्तोत्र भी आपके प्रभाव से सज्जन पुरुषो के मन को अवश्य ही हरण करेगा।

हिन्दी पद्य यो मान, की स्तुति गुरू तुझ अल्पधी ने,
तेरे प्रभाववश नाथ! वही हरेगो।
सत्-लोक के हृदय को जलबिन्दु भी, तो,
मोती समान नलिनी-दल पै सुहाते ॥८॥

❋

आस्ता तव स्तवनमस्त-समस्त-दोष,
त्वत्सकथापि जगता दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्र-किरण कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकास-भाञ्जि ॥९॥

अन्वमार्थ

तव—	(हे भगवन) तुम्हारा
अस्तसमस्तदोष—	समस्त दोषो से रहित (निर्दोष)
स्तवन—	स्तवन
दूरे—	दूर
आस्ताम्—	रहे
त्वत्सकथा अपि—	तुम्हारे नाम की कथा भी
जगता—	जगज्जनो के
दुरितानि—	पापो को
हन्ति—	नष्ट कर देती है।
सहस्रकिरण—	सूर्य
दूरे (आस्ता)—	दूर ही रहे
प्रभा—	(उसकी) प्रभा
एव—	ही

पद्‌माकरेषु— सरोवर मे
जलजानि— कमलो को
विकासभाञ्जि— विकसित
कुरुते— कर देती है।

भावार्थ — हे भगवन्! आपके निर्दोप स्तवन करने का क्या महत्व बताऊँ, केवल आपके नाम का उच्चारण ही ससारी जीवो के समस्त पापो का विनाश कर देता है। सूर्य का उदय होना तो दूर रहे, पर उसकी अरुण-प्रभा ही सरोवरो के कमलो को खिला देती है।

हिन्दी पद्य निर्दोप दूर तव हो स्तुति का बनाना,
तेरी कथा तक हरे जग के अघो को।
हो दूर सूर्य, करती उसकी प्रभा ही,
अच्छे प्रफुल्लित सरोजनिको सरो मे ॥९॥

※

नात्युद्‌भुत भुवन-भूषण-भूतनाथ,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन कि वा,
भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति ॥१०॥

अन्वयार्थ

भुवन-भूषण— हे तीन भुवन के आभूषण!
भूतनाथ— हे जगन्नाथ
भूतै— वास्तविक
गुणै— गुणो के द्वारा
भवन्तम्— आपकी
अभिष्टुवन्त— स्तुति करने वाले पुरुष
भुवि— भूतल पर
भवत.— आपके

तुल्या—	समान
भवन्ति—	हो जाते है
(इति) —	यह बात
अति-अद्भुतम्—	अति आश्चर्य-कारक
न—	नही है।
वा—	अथवा
ननु—	निश्चय से
तेन—	उस मालिक से
किम्—	क्या (लाभ है)
य—	जो
इह—	इस लोक मे
आश्रितम्—	अपने आश्रित मनुष्य को
भूत्या—	वैभव से
आत्मसमम्—	अपने समान
न करोति—	नही करता है।

भावार्थ—हे भुवनभूषण ! हे जगन्नाथ ! जो भव्य पुरुष आपकी स्तुति करते हैं वे आपके ही समान हो जाते हैं, इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है। ससार मे जो स्वामी अपने आश्रित सेवक को वैभव देकर अपने जैसा समृद्ध नही बनाता, उसकी सेवा से क्या लाभ है ? कुछ भी नही।

हिन्दी पद्य आश्चर्य क्या भुवनरत्न ! भले गुणो से,
तेरी किये स्तुति बने तुझसे मनुष्य।
क्या काम है जगत मे उन मालिको का,
जो आत्म-तुल्य न करे निज आश्रितो को ॥११॥

※

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेष - विलोकनीय,
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु।

पीत्वा पय शशिकर - द्युति दुग्ध - सिन्धो ,
क्षार जल जल - निधेरसितु क इच्छेत् ।।११।।

अन्वयार्थ

अनिमेष—	अपलक दृष्टि मे
विलोकनीयम्—	देखने के योग्य
भवन्तम्—	आपको
दृष्ट्वा—	देखकर
जनस्य—	मनुष्य की
चक्षु —	आँख
अन्यत्र—	और कही पर
तोषम्—	सन्तोष को
न उपयाति—	नही पाती है ।
शशिकरद्युति—	चन्द्र-किरणो के समान कान्ति वाले
दुग्ध-सिन्धो —	क्षीरसागर के
पय —	जलको
पीत्वा—	पीकर
कः—	कौन मनुष्य
जलनिधे —	लवण समुद्र के
क्षारम्—	खारे
जलम्—	जल को
अशितु—	पीने के लिए
इच्छेत्—	इच्छा करेगा ? कोई भी नही ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप अत्यन्त सुन्दर है । जो पुरुष अपलक दृष्टि से दर्शनीय आपको एक बार अच्छी तरह से देख लेते है, उनकी दृष्टि फिर अन्य देवो मे सन्तोष नही पाती है । क्षीर सागर का दूध के समान मिष्ट जल पीकर कौन मनुष्य लवण समुद्र के खारे पानी को पीना चाहेगा ? कोई भी नही पीना चाहेगा ।

हिन्दी पद्य :

अत्यन्त सुन्दर विभो तुझको विलोक,
अन्यत्र आँख लगती नहिं मानवो की।
क्षीराब्धि का मधुर सुन्दर वारि पीके,
पीना चहे जलधिका जल कौन खारा ॥११॥

※

यै शान्त - राग - रुचिभि. परमाणुभिस्त्व,
निर्मापितस्त्रिभुवनैक - ललाम - भूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणव. पृथिव्या,
यत्ते समानमपर नहि रूपमस्ति ॥१२॥

अन्वयार्थ .

त्रिभुवनैक—	हे त्रिभुवन के एक मात्र अद्वितीय
ललामभूत —	सौन्दर्य धारक भगवन् !
यै.—	जिन
शान्तरागरुचिभिः—	शान्ति भावो के धारक कान्ति वाले
परमाणुभि.—	परमाणुओ से
त्वम्—	तुम
निर्मापित'—	वनाये गये हो
ते—	वे
अणवः—	परमाणु
अपि—	भी
खलु—	निश्चय से
तावन्त—	उतने
एव—	ही थे।
यत्—	क्योकि
पृथिव्यां—	पृथिवी पर

ते समानम्—	आपके समान
अपर—	दूसरा
रूप—	रूप
नहि—	नही
अस्ति—	है।

भावार्थ—तीनो लोकों मे अद्वितीय सुन्दर रूप के धारक भगवन् ! शान्त रस की कान्ति वाले जिन मनोहर परमाणुओ से आपका शरीर रचा गया है, वे परमाणु इस लोक मे बस, उतने ही थे, अधिक नही। यही कारण है कि ससार मे आपके समान अन्य कोई सुन्दर रूप वाला व्यक्ति दिखाई नहीं देता है।

हिन्दी पद्य :

जो शान्ति के सुपरमाणु प्रभो तनू मे,
तेरे लगे, जगत मे उतने वही थे।
सौन्दर्यसार, जगदीश्वर, चित्तहर्ता,
तेरे समान इससे नहि रूप कोई ॥१२॥

※

वक्त्र क्व ते सुर - नरोरग - नेत्र - हारि,
नि शेष - निर्जित - जगत्त्रितयोपमानम्।
विम्ब कलक - मलिन क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डु - पलाश - कल्पम् ॥१३॥

अन्वयार्थ .

सुर—	देव
नर—	मनुष्य और
उरग—	नागो के
नेत्र—	नेत्रो का
हारि—	हरण करने वाला

नि शेष—	समस्त
निर्जित—	जीती हैं
जगत्त्रितय—	तीन जगत की
उपमानम्—	उपमाओ को जिसने ऐसा
ते—	आपका
वक्त्रं—	मुख
क्व—	कहाँ ! और
निशाकरस्य—	चन्द्रमा का
कलंकमलिनम्—	कलक से मलिन
विम्व—	विम्व
क्व—	कहाँ ?
यत्—	जो कि
वासरे—	दिन मे
पाण्डु—	पीला
पलाशकल्पम्—	पलाश पत्र के समान
भवति—	हो जाता है !

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका सुन्दर मुख देव, मनुष्य और नागकुमारो के नेत्रो को मोहित करने वाला और तीनो लोको की समस्त श्रेष्ठ उपमाओ को जीतने वाला है। जो लोग चन्द्र-विम्व से आपके मुख की उपमा देते है, वे यह भूल जाते हैं कि चन्द्र बिम्व तो दिन के समय ढाक के सूखे पत्ते के समान फीका हो जाता है और शश या मृग के चिह्न से मलिन है। पर आपका मुख निर्मल और सदा ही प्रकाशमान रहता है।

हिन्दी पद्य

तेरा कहाँ मुख सुरादिक - नेत्र - रम्य,
सर्वोपमान विजयी जगदीश, नाथ !
त्यो ही कलकित कहाँ वह चन्द्र - विम्व,
जो ही पड़े दिवस मे द्युति - हीन, फीका ॥१३॥

※

सम्पूर्ण - मण्डल - शशाक - कला - कलाप,
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवन तव लङ्घयन्ति ।
ये सश्रितास्त्रिजगदीश्वर ! नाथमेक,
कस्तान्निवारयति सचरतो यथेष्ट ॥१४॥

अन्वयार्थ

त्रिजगदीश्वर—	हे तीन जगत के ईश्वर
तव—	आपके
सम्पूर्ण मण्डल शशांक—	पूर्णिमा के चन्द्र-मण्डल की
कला-कलाप—	कला-समूह के समान
शुभ्रा —	उज्ज्वल
गुणाः—	गुण
त्रिभुवनम्—	तीनो लोको को
लङ्घयन्ति—	उल्लघन करते हैं ।
ये—	जो लोग
एकम्—	एकमात्र
नाथम्—	आप जैसे स्वामी का
संश्रिता—	आश्रय लेते है
तान्—	उन्हे
यथेष्ट—	स्वेच्छानुसार
संचरत —	विचरण करने से
क —	कौन
निवारयति—	रोक सकता हैं ? कोई भी नहीं ।

भावार्थ—हे त्रिभुवन के ईश्वर ! पूर्णमासी के चन्द्र की कलाओ के समूह के समान आपके अत्यन्त निर्मल गुण त्रिभुवन मे सर्व ओर व्याप्त हो रहे है अर्थात् सर्वत्र फैले हुए है । सो यह ठीक ही है—जो आप जैसे विश्व के एक

मात्र अधिष्ठाता प्रभु का आश्रय पाये हुए हैं उन्हे इच्छानुसार विचरने से भला कौन रोक सकता है ? अर्थात् कोई भी नही रोक सकता

हिन्दी पद्य :

अत्यन्त सुन्दर कलानिधि की कला से,
तेरे मनोज्ञ गुण नाथ, फिरे जगों मे।
है आसरा त्रिजगदीश्वर का जिन्हो को,
रोके उन्हे त्रिजग मे फिरते न कोई ॥१४॥

※

चित्र किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि,
र्नीत मनागपि मनो न विकार - मार्गम्।
कल्पान्तकाल - मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रि - शिखर चलित कदाचित् ॥१५॥

अन्वयार्थ :

यदि—	यदि
त्रिदशाङ्गनाभि —	देवांगनाओ के द्वारा
ते—	आपका
मन·—	मन
मनाक्—	जरा-सा
अपि—	भी
विकारमार्गम्—	विकार भाव को
न नीतम्—	नही प्राप्त हुआ
अन्य—	तो इसमे
किम्—	क्या
चित्रम्—	आश्चर्य है ?
चलिताचलेन—	पर्वतो को चलायमान करने वाले
कल्पान्तकाल—	प्रलय काल के

मरुता—	पवन से
किम्—	क्या
मन्दराद्रिशिखरम्—	सुमेरु का शिखर
कदाचित्—	कभी
चलितम् ?—	चलायमान हुआ है ?

भावार्थ—हे वीतराग भगवन् ! स्वर्ग की सुन्दर अप्सराओ ने अपने हाव-भाव विलासो के द्वारा आपको विचलित करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु आपका चित्त जरा-सा भी विचलित नही हुआ, सो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है। प्रलयकाल का प्रचण्ड पवन बडे-बडे पहाडो को चलायमान कर देता है, किन्तु क्या कभी वह गिरिराज सुमेरु के शिखर को भी कम्पित कर सका है ? कभी नही।

हिन्दी पद्य

देवागना हर सकी मन को न तेरे,
आश्चर्य नाथ, इसमे कुछ भी नही है।
कल्पान्तके पवन से उडते पहाड,
पै मन्दराद्रि हिलता तक है कभी क्या ॥१५॥

※

निर्धूम - वर्तिरपवर्जित - तैलपूर.,
कृत्स्न जगत्त्रयमिद प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुता चलिता-चलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ! जगत्प्रकाश ॥१६॥

अन्वयार्थ :

त्वम्—	(हे भगवन्!) तुम
निर्धूमवर्तिः—	धूम और बत्ती से रहित हो,
अपवर्जिततैलपूर·—	तैल-पूर से रहित हो,
कृत्स्नम्—	(फिर भी) समस्त
इदं—	इस

जगत्त्रयम्—	त्रिजगत को
प्रकटीकरोषि	प्रकाशित कर रहे हो ।
चलिताचलानाम्—	पर्वतो को चलायमान करने वाली
मरुता—	वायु के
जातु—	कदाचित् भी
गम्यः—	गम्य
न—	नही हो
जगत्प्रकाश —	अत (आप) जगत्-प्रकाशक
अपर.—	अपूर्व
दीप —	दीपक
असि—	हो ।

भावार्थ—हे नाथ ! आप जगत को प्रकाशित करने वाले एक अलौकिक दीपक हो । आपको न वत्ती की आवश्यकता है, न तेल की अपेक्षा है और न आपसे धुआँ ही निकलता है । वड़े-वडे पर्वतो को कम्पित कर देने वाला प्रचण्ड पवन भी आप पर कुछ भी असर नही कर सकता । लौकिक दीपक तो घर के किसी एक कोने को ही प्रकाशित करता है, किन्तु आप तो तीनो लोको को एक साथ प्रकाशित करते हैं । अतएव आप अपूर्व ही दीपक हो ।

हिन्दी पद्य

वत्ती नही, नहिं धुआँ, नहि तैलपूर,
भारी हवा तक नही सकती वुझा है ।
सारे त्रिलोक विच है करता उजेला,
उत्कृष्ट दीपक विभो ! द्युतिकारि तू है ॥१६॥

※

नास्त कदाचिदुपयासि न राहु - गम्य',
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नाम्भो - धरोदर - निरुद्ध - महाप्रभावः,
सूर्यातिशायि - महिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ॥१७॥

मरुता—	पवन से
किम्—	क्या
मन्दराद्रिशिखरम्—	सुमेरु का शिखर
कदाचित्—	कभी
चलितम् ?—	चलायमान हुआ है ?

भावार्थ—हे वीतराग भगवन् ! स्वर्ग की सुन्दर अप्सराओ ने अपने हाव-भाव विलासो के द्वारा आपको विचलित करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु आपका चित्त जरा-सा भी विचलित नहीं हुआ, सो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है । प्रलयकाल का प्रचण्ड पवन वडे-वडे पहाडो को चलायमान कर देता है, किन्तु क्या कभी वह गिरिराज सुमेरु के शिखर को भी कम्पित कर सका है ? कभी नही ।

हिन्दी पद्य :

देवागना हर सकी मन को न तेरे,
आश्चर्य नाथ, इसमे कुछ भी नही है ।
कल्पान्तके पवन से उडते पहाड,
पै मन्दराद्रि हिलता तक है कभी क्या ॥१५॥

※

निर्धूम - वर्तिरपवर्जित - तैलपूर.,
कृत्स्न जगत्त्रयमिद प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुता चलिता - चलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाश ॥१६॥

अन्वयार्थ

त्वम—	(हे भगवन् !) तुम
निर्धूमवर्तिः—	धूम और वत्ती से रहित हो,
अपवर्जिततैलपूर·—	तैल-पूर से रहित हो,
कृत्स्नम्—	(फिर भी) समस्त
इद—	इस

जगत्त्रयम्—	त्रिजगत को
प्रकटीकरोषि	प्रकाशित कर रहे हो।
चलिताचलानाम्—	पर्वतो को चलायमान करने वाली
मरुता—	वायु के
जातु—	कदाचित् भी
गम्य.—	गम्य
न—	नही हो
जगत्प्रकाश —	अत (आप) जगत्-प्रकाशक
अपर.—	अपूर्व
दीप —	दीपक
असि—	हो।

भावार्थ—हे नाथ ! आप जगत को प्रकाशित करने वाले एक अलौकिक दीपक हो। आपको न वत्ती की आवश्यकता है, न तेल की अपेक्षा है और न आपसे धुआँ ही निकलता है। बडे-बडे पर्वतो को कम्पित कर देने वाला प्रचण्ड पवन भी आप पर कुछ भी असर नही कर सकता। लौकिक दीपक तो घर के किसी एक कोने को ही प्रकाशित करता है, किन्तु आप तो तीनो लोको को एक साथ प्रकाशित करते हैं। अतएव आप अपूर्व ही दीपक हो।

हिन्दी पद्य

वत्ती नही, नहि धुआँ, नहि तैलपूर,
भारी हवा तक नही सकती बुझा है।
सारे त्रिलोक विच है करता उजेला,
उत्कृष्ट दीपक विभो ! द्युतिकारि तू है ॥१६॥

❊

नास्त कदाचिदुपयासि न राहु-गम्य:,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भो-धरोदर-निरुद्ध-महाप्रभाव:,
सूर्यातिशायि-महिमाऽसि मुनीन्द्र ! लोके ॥१७॥

अन्वयार्थ .

मुनीन्द्र—	हे मुनीश्वर !
कदाचित्—	तुम कभी भी
अस्त—	अस्त
न उपयासि—	नही होते हो,
न राहुगम्यः—	न राहु के गम्य हो,
सहसा—	सहज ही
जगन्ति—	तीनो लोको को
युगपत्—	एक साथ
स्पष्टीकरोषि	प्रकाशित करते हो ।
अम्भोधरोदर—	मेघो के द्वारा आपका
निरुद्ध महाप्रभाव—	महाप्रभाव निरुद्ध
न (अत)—	नही होता है, इसलिए
लोके—	लोक मे आप
सूर्यातिशायि—	सूर्य से भी अतिशय युक्त
महिमा—	महिमा वाले
असि—	हो ।

भावार्थ—हे मुनीश्वर ! आप सूर्य से भी अधिक विलक्षण महिमाशाली है । सूर्य सन्ध्या के समय अस्त हो जाता है, किन्तु आपका केवल ज्ञानरूप सूर्य सदैव प्रकाशमान रहता है । सूर्य को राहु ग्रस लेता है, किन्तु आपको कोई भी ग्रस नही सकता । सूर्य सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है और यह भी क्रम-क्रम से । किन्तु आप तो तीनो जगत् को एक साथ प्रकाशित करते है । सूर्य का प्रकाश मेघो से ढक दिया जाता है, किन्तु आपके महाप्रभाव को ससार मे कोई भी पदार्थ अवरुद्ध नही कर सकता । इसलिए आप सूर्यातिशायि महिमा वाले हो ।

हिन्दी पद्य ·

तू हो न अस्त, तुझको ग्रसता न राहु,
पाते प्रकाश तुझसे जग एक साथ ।
तेरा प्रभाव रुकता नहि बादलो से,
तू सूर्य से अधिक है महिमानिधान ।।१७।।

※

नित्योदय दलित - मोह - महान्धकारं,
गम्य न राहु - वदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशांक - विम्वम् ।।१८।।

अन्वयार्थ

नित्योदयम्—	सदा काल उदित रहने वाला
दलितमोहमहान्धकारम्—	मोहरूप महान्धकार का विनाशक
अनल्पकान्ति—	महाकान्तिशाली
तव—	आपका
मुखाब्जम्—	मुख-कमल
न—	नही
राहुवदनस्य—	राहु मुख के (केतु के)
गम्यम्—	गम्य है,
न वारिदानाम्—	न मेघो के
गम्यम्—	गम्य है, (किन्तु)
जगत्—	जगत् को
विद्योतयत्—	प्रकाशित करता हुआ
अपूर्वशशांक विम्वम्—	अपूर्व चन्द्र विम्व
विभ्राजते—	सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपका मुख-कमल एक विलक्षण चन्द्रमा है, क्योकि चन्द्रमा तो केवल रात्रि मे ही उदित होता है, किन्तु आपका मुख चन्द्र सदा ही उदयरूप रहता है, चन्द्रमा ऊपरी कुछ अन्धकार का नाश करता है, किन्तु आपका मुख चन्द्र मोहरूपी आन्तरिक महान् अन्धकार का विनाश करता है। चन्द्रमा को केतु ग्रसता है और मेघ भी आच्छादित कर लेते हैं, किन्तु

आपके मुख को ढकने वाला कोई नही है। चन्द्रमा पृथ्वी के कुछ भाग को ही प्रकाशित करता है। चन्द्रमा अल्पकान्ति का धारक है, किन्तु आपका मुख अनन्त कान्ति धारक है। इसलिए आपका मुख एक अपूर्व ही चन्द्र है।

हिन्दी पद्य

मोहान्धकार हरता, रहता उगा ही,
जाता न राहु - मुख मे, न छुपे घनो से।
अच्छे प्रकाशित करे, जग को सुहावे,
अत्यन्त कान्तिधर नाथ मुखेन्दु तेरा ॥१८॥

※

किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दु - दलितेषु तमःसु नाथ।
निष्पन्न - शालि-वन - शालिनि जीव-लोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जल - भार - नम्रैः ॥१९॥

अन्वयार्थ :

नाथ—	हे स्वामिन्!
तमःसु—	समस्त अन्धकार मे
युष्मन्मुखेन्दु—	आपके मुखचन्द्र-द्वारा
दलितेषु—	नष्ट कर दिये जाने पर
शर्वरीषु—	रात्रि मे
शशिना—	चन्द्रमा से
किम्—	क्या प्रयोजन है,
वा—	और
अह्नि—	दिन मे
विवस्वता—	सूर्य से
किम्—	क्या प्रयोजन है।
जीव लोके—	ससार मे
निष्पन्नशालिवनशालिनी—	धान के खेतो मे पक जाने पर

जलभारनम्रैः— जल से भरे हुए
जलधरैं — मेघो से
किम्— क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नही।

भावार्थ—हे नाथ ! जव आपका मुखचन्द्र ससार के समस्त अन्धकार का नाश कर सर्व विश्व को प्रकाशित कर रहा है, तब रात्रि मे चन्द्र की और दिन मे सूर्य की क्या आवश्यकता और प्रयोजन है। जब खेतो मे धान्य पक चुका है तब जल से भरे हुए मेघो की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कुछ भी नही।

हिन्दी पद्य

क्या भानु से दिवस मे, निशि मे शशी से,
तेरे प्रभो सुमुख से तम नाश होते।
अच्छी तरह पक गया जब धान, बोलो
क्या काम है जल भरे इन वादलों से ॥१९॥

※

ज्ञान यथा त्वयि विभाति कृतावकाश,
नैव तथा हरि-हरादिषु नायकेषु।
तेज स्फुरन्-मणिषु याति यथा महत्व,
नैव तु काच-शकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

अन्वयार्थ

कृतावकाश— पूर्ण रूप से विकसित
ज्ञान— ज्ञान
यथा— जैसा
त्वयि— आप मे
विभाति— सुशोभित हो रहा है
तथा— वैसा
हरि-हरादिषु— हरि (विष्णु) हर (महेश) आदि

नायकेषु—	नायको (देवों) में
एव न—	नही है
यथा—	जैसा
स्फुरन्मणिषु—	प्रकाशमान मणियो मे
तेजः—	तेज
महत्व—	महत्व को
याति—	प्राप्त होता है
(तथा)—	वैसा
किरणाकुले अपि—	सूर्य की किरणो से चमकते हुए
काचशकले—	काच के टुकडे मे
न विभाति—	नही शोभित होता है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! तीनो लोको को प्रकाशित करने वाला जैसा निर्मल ज्ञान आप मे पूर्ण रूप से उद्भासित है, वैसा ब्रह्मा, विष्णु आदि अन्य ससारी देवो मे नही है । यह ठीक भी है—क्यो कि जैसा प्रकाशमान तेज बहुमूल्य मणियो मे पाया जाता है, वैसा सूर्य की किरणो से चमकने वाले काच के टुकडे मे कहाँ सभव है ?

हिन्दी पद्य :

जो ज्ञान निर्मल विभो, तुममे सुहाता,
भाता नही वह कभी पर देवता मे ।
होती मनोहर छटा मणिमध्य जो है,
सो काच मे नहिं, पड़े रवि - बिम्ब के भी ॥२०॥

※

मन्ये वर हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदय त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्य,
कश्चिन्मनो हरति नाथ ! भवान्तरेऽपि ॥२१॥

अन्वयार्थं ·

नाथ—	हे स्वामिन् !
हरि-हरादय —	हरि-हर आदि देवो का
दृष्टा—	देखना
एव—	ही
वर—	उत्तम है
मन्ये—	ऐसा मैं मानता हूँ ।
येषु—	क्योकि उनके
दृष्टेषु —	देख लेने पर ही
हृदयम्—	हृदय
त्वयि—	आप मे
तोषम्—	सन्तोष को
एति—	प्राप्त होता है ।
भवता—	(अथवा) आपको
वीक्षितेन—	देखने से
किम्—	क्या (लाभ)
येन—	जिससे कि
भुवि—	भूमण्डल पर
अन्य —	अन्य
कश्चित्—	कोई देव
भवान्तरे—	जन्मान्तर मे
अपि—	भी
मनो—	(मेरे) मनको
न हरति—	हरण नही कर सकता है ।

भावार्थ—हे नाथ ! मैं तो आपके देखने की अपेक्षा हरि-हर आदि अन्य देवो का देखना अच्छा मानता हूँ, क्योकि उनके देखने के वाद ही हृदय आप मे ही सन्तोष पाता है । अथवा, आपको देखने से भी क्या लाभ है ? क्योकि

आपके देखने के वाद जन्मान्तर मे भी मेरा मन अन्य कोई देव नही हर पाता। सारांश—दूसरो को देखने से तो आपमे सन्तोष प्राप्त होता है, यह लाभ है। और आपको देख लेने के वाद अन्य देव की ओर चित्त नही जाता, यह हानि है। (यह व्याज निन्दा और व्याजस्तुति है।)

हिन्दी पद्य

देखे भले, अयि विभो, पर देवता ही,
देखे जिन्हे हृदय आ तुझ मे रमे ये।
तेरे विलोकन किये फल क्या प्रभो जो,
कोई हमे न मन मे पर जन्म मे भी ॥२१॥

❋

स्त्रीणा शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुत त्वदुपम जननी प्रसूता।
सर्वादिशो दधति भानि सहस्ररश्मि,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदशु - जालम् ॥२२॥

अन्वयार्थ

शतानि—	सैंकड़ो
स्त्रीणाम्—	स्त्रियाँ
शतश —	सैंकडो
पुत्रान्—	पुत्रो को
जनयन्ति—	जन्म देती है, (परन्तु)
अन्या—	अन्य कोई
जननी —	माता
त्वदुपमम्—	आप जैसे
सुत—	पुत्र को
न प्रसूता—	जन्म नही दे सकी।
सर्वा.—	सभी

दिश —	दिशाएँ
भानि—	ताराओ को
दधति—	धारण करती है, (किन्तु)
स्फुरद्—	देदीप्यमान
अशुजालम्—	किरणो के समूह वाले
सहस्ररश्मिम्—	सूर्य को
प्राची एव—	एक पूर्व ही
दिक्—	दिशा
जतयति—	उत्पन्न करती है ।

भावार्थ—ससार मे अनेको ही स्त्रियाँ सैकडो ही पुत्रो को उत्पन्न करती हैं, किन्तु आपके समान महाप्रतापी पुत्र रत्न को अन्य किसी माता ने जन्म नही दिया । सो ठीक ही है, क्योकि सभी दिशाएं असख्य ताराओ को धारण करती है, परन्तु प्रकाशमान सूर्य को केवल एक पूर्व दिशा ही प्रकट करती है ।

हिन्दी पद्य ·

माएँ अनेक जनती जग मे सुतो को,
है, किन्तु वे न तुझसे सुतकी प्रसूता ।
सारी दिशा धर रही बहु तारिकाएँ,
पै एक पूरव दिशा रविको उगाती ।।२२।।

※

त्वामामनन्ति मुनय परम पुमास-
मादित्य - वर्णममल तमस परस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्यु,
नान्य शिव शिव - पदस्य मुनीन्द्र पथा ।।२३।।

अन्वयार्थ

मुनीन्द्र—	हे मुनीश्वर !
मुनय —	मुनिजन

त्वाम्—	आपको ही
आदित्यवर्णम्—	सूर्य के समान तेजस्वी
अमलम्—	निर्मल
तमस परस्तात्—	अन्धकार से दूरवर्ती
परमम्—	परम
पुमान्सम्—	पुरुष
आमनन्ति—	मानते है। और
त्वाम् एव—	तुझको ही
सम्यक्—	भली भाँति से
उपलभ्य—	प्राप्त करके
मृत्युम्—	मृत्यु को
जयन्ति—	जीतते हैं, अत. आपके सिवाय
शिवपदस्य—	मोक्ष पदका
अन्यः—	और कोई
शिवः—	कल्याणकारी
पन्था —	मार्ग
न (अस्ति)—	नही है।

भावार्थ—हे मुनीन्द्र! मुनिजन आपको सूर्य के समान तेजस्वी, राग-द्वेपादि से रहित निर्मल और अज्ञानरूप अन्धकार से विमुक्त परम पुरुप मानते हैं। जो लोग श्रेष्ठ हृदय से आपकी उपामना करते हैं, वे मृत्यु पर विजय पाते हैं। इसलिए आपको छोडकर कल्याणकारी मुक्ति का मार्ग अन्य नही है।

हिन्दी पद्य

योगी तुझे परम पूरुष हैं वताते,
आदित्य वर्ण मल-हीन, तमिस्त्रहारी।
पाके तुझे जय करें सव मौत को भी,
है और ईश्वर नही वर मोक्ष-मार्ग ॥२३॥

*

त्वामव्यय विभुमचिन्त्यमसख्यमाद्य,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्ग - केतुम् ।
योगीश्वर विदित - योगमनेकमेक,
ज्ञान - स्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्त. ॥२४॥

अन्वयार्थ :

सन्त.—	सन्त पुरुष
त्वाम्—	आपको
अव्ययम् —	अक्षय
विभुम्—	(ज्ञान रूप से) व्यापक
अचिन्त्यम्—	चिन्तन मे नही आने वाले
असख्यम्—	असख्य गुण युक्त
आद्यम्—	आदि मे उत्पन्न हुए
ब्रह्माणम्—	ब्रह्मा
ईश्वर—	ईश्वर
अनन्तम्—	अनन्त
अनगकेतुम्—	अनङ्गकेतु—काम-विनाशक
योगीश्वरम्—	योगियो के ईश्वर
विदितयोगम्—	योग के ज्ञायक
अनेकम्—	गुण-पर्याय की अपेक्षा अनेकरूप
एकम्—	जीव द्रव्य की अपेक्षा एकरूप
ज्ञानस्वरूपम्—	केवलज्ञानस्वरूप
अमल—	कर्म-मलसे रहित निर्मल
प्रवदन्ति—	कहते है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप कभी अपने स्वरूप से च्युत नही होते, इस लिए आप 'अव्यय' हैं । आपका ज्ञान सर्व पदार्थों को जानता है, इसलिए आप 'व्यापक' है । बडे ज्ञानी पुरुष भी आपके पूर्ण स्वरूप का चिन्तवन नही कर

पाते, इसलिए आप 'अचिन्त्य' है। आपके गुण गणना से परे है, इसलिए असख्य है। चौवीस तीर्थकरो मे सबसे पहिले हुए इसलिए आप 'ब्रह्मा' है। आप अनन्तशक्ति के धारक होने से 'ईश्वर' है। अनन्त गुणो के धारक होने से आप 'अनन्त' है। काम को जीतने से आप 'अनङ्गकेतु' कहलाते हैं। योगियो के भी ईश्वर होने से आप 'योगीश्वर' हैं। आप ध्यान योग के ज्ञाता है, गुण-पर्याय की अपेक्षा अनेक और द्रव्य की अपेक्षा एक है। ज्ञानस्वरूप है और निर्मल हैं। ऐसा सन्तजन आपके गुणो का वर्णन करते हैं।

हिन्दी पद्य :

योगीश, अव्यय, अचिन्त्य अनङ्गकेतु,
ब्रह्मा असख्य, परमेश्वर, एक, नाना।
ज्ञानस्वरूप, विभु, निर्मल, योगवेत्ता,
त्यो आद्य, सन्त तुझको कहते अनन्त ॥२४॥

※

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित - बुद्धि - बोधात्,
त्व शकरोऽसि भुवन - त्रय - शङ्करत्वात्।
धाताऽसि धीर ! शिव-मार्ग-विधेर्विधानात्,
व्यक्त त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

अन्वयार्थ :

विबुध—	देवताओ के द्वारा
अर्चित—	पूजित
बुद्धिबोधात्—	केवलज्ञानी होने से
त्वम् एव—	तुम ही
बुद्ध —	बुद्ध हो,
भुवनत्रय—	तीन भुवन मे
शङ्करत्वात्—	सुख करने से
त्वम्—	तुम ही
शङ्कर —	शङ्कर

असि—	हो
धीर—	हे धीर वीर !
शिवमार्ग—	मोक्ष मार्ग की
विधे. विधानात्—	विधि के विधान करने से
त्वं धाता—	तुम ही विधाता (ब्रह्मा)
असि—	हो
भगवन्—	(इस प्रकार) हे भगवन् !
व्यक्त —	स्पष्ट रूप से
त्वम् एव—	आप ही
पुरुषोत्तम.—	पुरुषोत्तम (विष्णु)
असि—	हो ।

भावार्थ—हे देवताओ के द्वारा पूजित प्रभो ! आप मे बुद्धि का पूर्ण रूप से विकास हुआ है, अत आप ही बुद्ध हो । तीन लोक के कल्याण करने वाले हैं, अत आप ही शङ्कर हो । हे धीर ! आपने रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की विधि का उपदेश दिया है, अत आप ही विधाता हो और हे भगवन् ! ससार के सर्व पुरुषो मे उत्तम होने से आप ही सच्चे पुरुषोत्तम (विष्णु) हो ।

हिन्दी पद्य ·

तू बुद्ध है विबुध - पूजित बुद्धिवाला,
कल्याण - कर्तृ वर शङ्कर भी तुही है ।
तू मोक्ष मार्ग - विधि - कारक है विधाता,
है व्यक्त नाथ, पुरुषोत्तम भी तुही है ॥२५॥

※

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति - हराय नाथ !
तुभ्य नम क्षिति - तलामल - भूषणाय !
तुभ्य नमस्त्रि - जगत परमेश्वराय !
तुभ्य नमो जिन ! भवोदधि - शोषणाय ! । २६ ।

अन्वयार्थ :

नाथ—	हे स्वामिन् !
त्रिभुवन—	तीन भुवन की
आर्तिहराय—	पीडा के हरने वाले
तुभ्य—	आपको
नम —	नमस्कार है
क्षितितल—	भूतल के
अमलभूषणाय—	निर्मल आभूषण
तुभ्यं—	आपको
नमः—	नमस्कार है
त्रिजगत—	तीन जगत के
परमेश्वराय—	परमेश्वर
तुभ्य—	आपको
नमः—	नमस्कार है
जिन—	हे जिनेन्द्र !
भवोदधि—	भव-सागर के
शोषणाय—	सुखाने वाले
तुभ्य—	आपके लिए
नमः—	नमस्कार है ।

भावार्थ—हे नाथ ! आप तीनो लोको की पीडा के हर्त्ता है, भूमण्डल के आप निर्मल आभूपण हैं, तीनो लोको के परमेश्वर हैं और ससार रूपी समुद्र को सुखाने वाले हैं, अर्थात् जीवो को मोक्ष पहुँचाने वाले हैं, अत आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है ।

हिन्दी पद्य

त्रैलोक्य - आर्तिहर नाथ ! तुझे नमूँ मैं,
हे भूमि के विमलरत्न तुझे नमूँ मैं ।
हे ईश सर्व जग के, तुझ को नमूँ मैं,
मेरे भवोदधि - विनाशि ! तुझे नमूँ मैं ॥२६॥

*

को विस्मयोऽत्र यदिनाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त - विबुधाश्रय - जात - गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥

अन्वयार्थ

मुनीश—	हे मुनियो के ईश्वर !
यदि नाम—	यदि
त्वम्—	आप
निरवकाशतया—	अवकाश-रहित (ठसाठस)
अशेषै.—	समस्त
गुणै —	गुणो के द्वारा
सश्रित —	आश्रय को प्राप्त हुए हैं, तो
अत्र—	इसमे
क —	कौन-सा
विस्मय'—	आश्चर्य हैं ?
उपात्त—	प्राप्त किया है
विविध—	अनेक पुरुषो को
आश्रय जात—	आश्रय जिन्होने, अतएव
गर्वै —	गर्व को प्राप्त
दोषै —	दोषो के द्वारा
कदाचित्—	कभी
स्वप्नान्तरे अपि—	स्वप्न दशा मे भी
न ईक्षितः—	नही देखे गये हो,
अत्रापि क विस्मय —	इसमे भी क्या आश्चर्य है ?

भावार्थ—हे मुनीश्वर ! विश्व के समस्त सद्-गुणो ने आप मे आश्रय पाया है, अतएव दोषो को आप मे जरा-सा भी स्थान नही मिला । फलस्वरूप

उन्होंने अन्य देवताओ मे स्थान प्राप्त किया और इसलिए वे गर्व को प्राप्त हो गये। फिर वे स्वप्न मे भी कभी आपको लौटकर देखने को नही आये, सो इसमे आश्चर्य की कौन-सी बात है ? जिसे अन्यत्र आदर मिलेगा, वह भला आश्रय न देने वाले व्यक्ति के पास लौटकर क्यो आयेगा ?

हिन्दी पद्य

आश्चर्य क्या गुण सभी तुम मे समाये,
अन्यत्र क्योकि न मिली उनको जगह ही।
देखा न नाथ, मुख भी तव स्वप्न मे भी,
पा आसरा जगत का सब दोष ने तो ॥२७॥

※

उच्चैरशोक - तरु - सश्रितमुन्मयूख,
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त - तमो वितानं,
बिम्ब रवेरिव पयोधर - पार्श्व - वर्ति ॥२८॥

अन्वयार्थ ·

उच्चै·—	ऊँचे
अशोकतरु—	अशोक वृक्ष के नीचे
सश्रितम्—	विराजमान
उन्मयूखम्—	जिसकी किरणें ऊपर की ओर जा रही है, ऐमा
भवत —	आपका
नितान्तम्—	अत्यन्त
अमलम्—	निर्मल
रूपम्—	स्वरूप
स्पष्ट—	स्पष्ट रूप से
उल्लसत्—	चमकती हुई
किरणम्—	किरणो वाले, तथा

अस्त तमोवितानम्—	अन्धकार के विस्तार को नाश करने वाले
पयोधर—	मेघ के
पार्श्ववर्ति—	समीपवर्ती
रवे बिम्बम्—	सूर्य के बिम्ब के
इव—	समान
आभाति—	शोभायमान हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन् ! समवशरण मे अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान चमकती और ऊपर की ओर फैलती हुई किरणो वाला आपका निर्मल स्वरूप ऐसा भव्य प्रतीत होता है जैसा कि स्पष्ट रूप से चमकती हुई किरणो वाला एव अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब सघन मेघो के समीप शोभित होता हैं। (यह अशोक वृक्ष प्रातिहार्य का वर्णन है।)

हिन्दी पद्य

नीचे अशोकतरु के तन है सुहाता,
तेरा विभो, विमलरूप प्रकाश कर्ता।
फैली हुई किरण का, तमका विनाशी,
मानो समीप घन के रवि - बिम्ब ही है ॥२८॥

❋

सिंहासने मणि - मयूख - शिखा - विचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्ब वियद्विलसदंशु - लता - वितान,
तुङ्गोदयाद्रि - शिरसीव सहस्ररश्मे. ॥२६॥

अन्वयार्थ :

मणि-मयूख—	मणियों की किरण
शिखा-विचित्रे—	पंक्ति से शोभित
सिंहासने—	सिंहासन पर

उन्होंने अन्य देवताओं मे स्थान प्राप्त किया और इसलिए वे गर्व को प्राप्त हो गये। फिर वे स्वप्न मे भी कभी आपको लौटकर देखने को नही आये, सो इसमे आश्चर्य की कौन-सी बात है ? जिसे अन्यत्र आदर मिलेगा, वह भला आश्रय न देने वाले व्यक्ति के पास लौटकर क्यो आयेगा ?

हिन्दी पद्य

आश्चर्य क्या गुण सभी तुम मे समाये,
अन्यत्र क्योकि न मिली उनको जगह ही।
देखा न नाथ, मुख भी तव स्वप्न मे भी,
पा आसरा जगत का सब दोष ने तो ।।२७।।

※

उच्चैरशोक - तरु - संश्रितमुन्मयूख,
माभाति रूपममल भवतो नितान्तम्।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त - तमो वितान,
बिम्ब रवेरिव पयोधर - पार्श्व - वर्ति ।।२८।।

अन्वयार्थ

उच्चैः—	ऊँचे
अशोकतरु—	अशोक वृक्ष के नीचे
संश्रितम्—	विराजमान
उन्मयूखम्—	जिसकी किरणें ऊपर की ओर जा रही है, ऐसा
भवतः —	आपका
नितान्तम्—	अत्यन्त
अमलम्—	निर्मल
रूपम्—	स्वरूप
स्पष्ट—	स्पष्ट रूप से
उल्लसत्—	चमकती हुई
किरणम्—	किरणो वाले, तथा

अन्वयार्थ ·

कुन्दावदात—	कुन्द पुष्प के समान निर्मल श्वेत
चल-चामर—	चलते हुए चवरो की
चारु शोभम्—	सुन्दर शोभा से युक्त
कलधौत—	सुवर्ण के समान
कान्तम्—	कान्तिवाला
तव—	आपका
वपुः—	शरीर
उद्यच्छशाङ्क—	उदय होते हुए चन्द्रमा के समान
शुचि-निर्झर—	निर्मल झरनो की
वारिधारम्—	जल धारा से युक्त
सुरगिरे—	सुमेरु पर्वत के
शातकौम्भम्—	सुवर्णमयी
उच्चैस्तटम्—	ऊँचे तट के
इव—	समान
विभ्राजते—	सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—जैसे उदित होते हुए चन्द्रमा के समान निर्मल झरनो की जल धाराओ से सुमेरु का सुवर्ण मयी ऊँचा शिखर शोभा पाता है, उसी प्रकार देवताओ के द्वारा दोनों ओर ढुरने वाले कुन्द पुष्प के समान श्वेत चँवरो की सुन्दर शोभा से युक्त आपका सुवर्ण जैसी कान्तिवाला दिव्य देह भी अत्यन्त सुन्दर शोभा को प्राप्त हो रहा है। (यह चामर प्रातिहार्य का वर्णन है।)

हिन्दी पद्य

तेरा सुवर्ण-सम देह विभो, सुहाता,
है, श्वेत कुन्दसम चामर के ढुरे से।
सोहै सुमेरुगिरि काचन कान्तिधारी,
ज्यो चन्द्र कान्तिधर निर्झर के वहे से ॥३०॥

तव—	आपका
कनकावदातम्—	सुवर्ण के समान स्वच्छ
वपु —	शरीर
तुगोदयाद्रि—	ऊंचे उदयाचल के
शिरसि—	शिखर पर
वियद्-विलसद्—	आकाश मे शोभित
अशुलता वितानम्—	किरण रूप लता मण्डप वाले
सहस्ररश्मेः—	सूर्य के
बिम्वम्—	बिम्ब के
इव—	समान
विभ्राजते—	अति शोभायमान हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार ऊंचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर आकाश मे प्रकाशमान किरण रूप लताओ के विस्तार से युक्त सूर्य का बिम्ब शोभा को प्राप्त होता है उसी प्रकार जडे हुए बहुमूल्य रत्नो की किरण-प्रभा से चित्र-विचित्रित ऊचे सिंहासन पर आपका सुवर्ण के समान देदीप्यमान स्वच्छ शरीर शोभा को प्राप्त हो रहा है। (यह 'सिंहासन' प्रातिहार्य का वर्णन है।)

हिन्दी पद्य

सिंहासन स्फटिक रत्न जडा, उसी में,
भाता विभो! कनककान्त शरीर तेरा।
ज्यो रत्न-पूर्ण उदयाचल शीश पै जा,
फैला स्वकीय किरणे रवि - बिम्ब सो है ॥२९॥

※

कुन्दावदात-चल - चामर - चारु - शोभम्,
विभ्राजते तव वपु कलधौत - कान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क - शुचि-निर्झर - वारि - धार
मुच्चैस्तट सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

अन्वयार्थ

कुन्दावदात—	कुन्द पुष्प के समान निर्मल श्वेत
चल-चामर—	चलते हुए चवरो की
चारु शोभम्—	सुन्दर शोभा से युक्त
कलधौत—	सुवर्ण के समान
कान्तम्—	कान्तिवाला
तव —	आपका
वपुः—	शरीर
उद्यच्छशाङ्क—	उदय होते हुए चन्द्रमा के समान
शुचि-निर्झर—	निर्मल झरनो की
वारिधारम्—	जल धारा से युक्त
सुरगिरे —	सुमेरु पर्वत के
शातकौम्भम्—	सुवर्णमयी
उच्चैस्तटम्—	ऊँचे तट के
इव —	समान
विभ्राजते—	सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—जैसे उदित होते हुए चन्द्रमा के समान निर्मल झरनो की जल धाराओ से सुमेरु का सुवर्ण मयी ऊँचा शिखर शोभा पाता है, उसी प्रकार देवताओ के द्वारा दोनो ओर ढुरने वाले कुन्द पुष्प के समान श्वेत चँवरो की सुन्दर शोभा से युक्त आपका सुवर्ण जैसी कान्तिवाला दिव्य देह भी अत्यन्त सुन्दर शोभा को प्राप्त हो रहा है। (यह चामर प्रातिहार्य का वर्णन है।)

हिन्दी पद्य ·

तेरा सुवर्ण - सम देह विभो, सुहाता,
है, श्वेत कुन्दसम चामर के ढुरे से।
सोहै सुमेरुगिरि काचन कान्तिधारी,
ज्यो चन्द्र कान्तिधर निर्झर के वहे से ॥३०॥

तव—	आपका
कनकावदातम्—	सुवर्ण के समान स्वच्छ
वपु —	शरीर
तुंगोदयाद्रि—	ऊंचे उदयाचल के
शिरसि—	शिखर पर
वियद्-विलसद्—	आकाश में शोभित
अंशुलता वितानम्—	किरण रूप लता मण्डप वाले
सहस्ररश्मेः—	सूर्य के
बिम्बम्—	बिम्ब के
इव—	समान
विभ्राजते—	अति शोभायमान हो रहा है।

भावार्थ—हे भगवन्! जिस प्रकार ऊंचे उदयाचल पर्वत के शिखर पर आकाश में प्रकाशमान किरण रूप लताओं के विस्तार से युक्त सूर्य का बिम्ब शोभा को प्राप्त होता है उसी प्रकार जड़े हुए बहुमूल्य रत्नों की किरण-प्रभा से चित्र-विचित्रित ऊंचे सिंहासन पर आपका सुवर्ण के समान देदीप्यमान स्वच्छ शरीर शोभा को प्राप्त हो रहा है। (यह 'सिंहासन' प्रातिहार्य का वर्णन है।)

हिन्दी पद्य :

सिंहासन स्फटिक रत्न जडा, उसी में,
भाता विभो! कनककान्त शरीर तेरा।
ज्यों रत्न-पूर्ण उदयाचल शीश पै जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि - बिम्ब सो है ॥२९॥

ॐ

कुन्दावदात-चल - चामर - चारु - शोभम्,
विभ्राजते तव वपु: कलधौत - कान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क - शुचि-निर्झर - वारि - धार
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

हिन्दी पद्य :

मोती मनोहर लगे जिसमे सुहाते,
नीके हिमांशु - सम सूरज - ताप - हारी ।
है तीन छत्र शिर पैं अतिरम्य तेरे,
जो तीन लोक - परमेश्वरता बताते ॥३१॥

※

गम्भीर - तार - रव - पूरित - दिग्विभाग-
स्त्रैलोक्य - लोक-शुभ-सगम - भूति - दक्ष ।
सद्धर्म - राज - जय-घोषण - घोषक सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥३२॥

अन्वयार्थ :

गम्भीर—	गम्भीर
तार-रव-पूरित—	उच्च सुन्दर शब्द से पूर दिया है
दिग्विभागः—	दिशाओ के विभाग को जिसने, ऐसा
त्रैलोक्य—	तीनो लोको के
लोक—	लोगो को
शुभ—	शुभ
सगम—	समागम की
भूति—	विभूति देने मे
दक्ष—	कुशल
सद्धर्मराज—	सद्धर्मराज तीर्थंकर देव की
जय घोषण—	जय घोपणा को
घोषक—	घोषित करने वाला
दुन्दुभिः—	दुन्दुभि वाद्य (नगाडा)
ते—	आपके
यशसः—	यश को

❋

छत्रत्रय तव विभाति शशाक - कान्त-
मुच्चै स्थित स्थगित - भानुकर - प्रतापम् ।
मुक्ताफल - प्रकर-जाल - विवृद्ध - शोभम्,
प्रख्यापयत्त्रिजगत परमेश्वरत्वम् ।।३१।।

अन्वयार्थ

उच्चै स्थितम्—	ऊपर स्थित
शशाककान्तम्—	चन्द्र के समान कान्तिवाले,
स्थगित—	रोका है
भानुकर—	सूर्य के
प्रतापम्—	प्रताप को जिन्होने, ऐसे, तथा
मुक्ताफल—	मोतियो के
प्रकरजाल—	समूह वाली झालर से
विवृद्धशोभम्—	बढ रही है शोभा जिसकी, ऐसे
छत्रत्रयम्—	तीन छत्र
तव—	आपके
त्रिजगत —	तीन जगत की
परमेश्वरत्वम्—	परमेश्व ता को
प्रख्यापयत् —	प्रकट करते हुए
विभाति—	शोभायमान हो रहे हैं ।

भावार्थ — आपके मस्तक के ऊपर जो तीन छत्र लगे हुए हैं वे चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण वाले हैं, उनमे मोतियो की झालरे लगी हुई है और सूर्य के आतप को रोक रहे हैं, वे ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो 'आप तीन जगत के स्वामी हैं' यही ससार को बतला रहे हो। (यह छत्रत्रय प्रातिहार्य का वर्णन है।)

मन्दार—	मन्दार जाति के
सुन्दर—	सुन्दर जाति के
नमेरु—	नमेरु जाति के
सुपारिजात—	पारिजात जाति के
सन्तानकादि—	और सन्तानक आदि जाति के
कुसुमोत्कर वृष्टि.—	कल्पवृक्षो के पुष्पो की वर्षा
ते—	आपके
वचसा—	वचनो की
ततिः वा—	पक्ति के समान
दिवः—	आकाश से
पतति—	हो रही हैं।

भावार्थ—समवशरण मे देवगण मन्दार सुन्दर, नमेरु, पारिजात और सन्तानक आदि कल्पवृक्षो के विविध वर्ण वाले पुष्पो की वर्षा सुगन्धित जल विन्दुओ के और मन्द मन्द वायु के साथ करते हैं, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो आपके दिव्य वचनो की पक्ति ही वरस रही हो। (यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन है।)

हिन्दी पद्य

गन्धोद - बिन्दु - युत मारुत की गिराई,
मन्दारकादि तरु की कुसुमावली की।
होती मनोरम महा सुरलोक से है,
वर्षा, मनो तव लसे वचनावली है ॥३३॥

※

शुम्भत्प्रभा - वलय भूरि - विभा विभोस्ते,
लोक - त्रये द्युतिमता द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकर - निरन्तर - भूरि - सख्या-
दीप्त्याजयत्यपि निशामपि सोम सौम्याम् ॥३४॥

प्रवादी—	सर्व और विस्तारता
सन्—	हुआ
खे—	आकाश मे
ध्वनति—	शब्द कर रहा है ।

भावार्थ—समवशरण मे जब भगवान् विराजते है, तब आकाश मे देव दुन्दुभि बजाते हैं, उसके सुन्दर गम्भीर उच्च स्वर से दशो दिशाएँ गूँज जाती हैं, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह तीनो लोको के प्राणियो को कल्याण प्राप्ति के लिए आह्वान कर रहा है, और भगवान् ही 'सच्चे धर्म के निरूपण करने वाले हैं', इस प्रकार से भगवान् के यश को वह ससार मे विस्तारता हुआ बजता रहता है । (यह देवदुन्दुभि प्रातिहार्य का वर्णन है ।)

हिन्दी पद्य

गम्भीर नाद भरता दश ही दिशा मे,
सत्सग की त्रिजग को महिमा बताता ।
धर्मेश की कर रहा जय - घोषणा है,
आकाश बीच बजता यशका नगारा ॥३२॥

※

मन्दार - सुन्दर - नमेरु - सुपारिजात-
सन्तानकादि - कुसुमोत्कर - वृष्टि - रुद्धा ।
गन्धोद - बिन्दु - शुभ - मन्द-मरुत्प्रपाता,
दिव्यादिव पतति ते वचसा ततिर्वा ॥३३॥

अन्वयार्थ

गन्धोदबिन्दु—	सुगन्धित जल बिन्दुओ मे युक्त
शुभ मन्द—	शुभ मन्द मन्द
मरुत्प्रपाता—	वायु के साथ गिरती हुई
उद्धा—	ऊर्ध्वमुखी
दिव्या—	दिव्य

*

स्वर्गापवर्ग - गम - मार्ग - विमार्गणेष्टः,
सद्धर्म - तत्त्व - कथनैक - पटु - स्त्रिलोक्याः ।
दिव्य - ध्वनिर्भवति ते विशदार्थ - सर्व-
भाषा - स्वभाव - परिणाम गुणैः प्रयोज्यः ॥३५॥

अन्वयार्थ

स्वर्ग—	स्वर्ग और
अपवर्ग—	मोक्ष के
गम-मार्ग—	जाने के मार्ग को
विमार्गणेष्ट —	अन्वेषण करने में अभीष्ट,
त्रिलोक्या —	तीनो लोको को
सद्धर्मतत्त्व—	सत्य धर्म का तत्त्व
कथनैकपटु—	कथन करने में अत्यन्त समर्थ,
विशदार्थ—	विशद अर्थ और
सर्व भाषा—	सर्व भाषाओ के
स्वभाव परिणाम—	स्वभाव मे परिणत होने के
गुणै —	गुणो से
प्रयोज्य —	युक्त
ते दिव्यध्वनि—	आपकी दिव्यध्वनि
भवति—	होती है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी दिव्यध्वनि स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग बताने वाली है, तीन लोक के प्राणियों को सत्य धर्म का रहस्य समझाने मे कुशल है, विशद स्पष्ट अर्थ वाली है और ससार की सभी भाषाओं मे परिणमित होने के अति विलक्षण गुण से युक्त है । (यह दिव्यध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन है ।)

अन्वयार्थ .

लोकत्रय—	तीनो लोको मे
द्युतिमता—	सभी कान्तिवाले पदार्थों की
द्युतिम्—	कान्ति को
आक्षिपन्ती—	तिरस्कार करती हुई
ते विभोः—	आपके
शुम्भत्—	प्रकाशमान
प्रभावलय—	भामण्डल की
भूरिविभा—	भारी प्रभा
प्रोद्यद्दिवाकर—	उदित होते हुए सूर्यो की
निरन्तर—	निरन्तर
भूरि सख्या—	भारी सख्या वाली
दीप्त्या अपि—	दीप्ति (कान्ति) से भी
सोम सौम्याम्—	चन्द्र से शोभायमान
निशाम् अपि—	रात्रि को भी
जयति—	जीत रही है।

भावार्थ—भगवान के भामण्डल की ज्योतिर्मयी प्रभा तीन जगत के सभी ज्योति वाले पदार्थों की ज्योति को लज्जित कर देती है और एक साथ उदित हुए सहस्रो सूर्यों के प्रकाश से अधिक प्रकाश वाली होती हुई भी वह भामण्डल की प्रभा पूर्णमासी की शीतल चन्द्रिका को भी पराजित कर देती है। साराश यह कि भामण्डल की प्रभा सहस्रो सूर्यों की प्रभा से अधिक होने पर भी किसी को सन्ताप नही पहुँचाती है, प्रस्तुत चन्द्रमा की चाँदनी से भी अधिक शान्ति प्रदान करती है। (यह भामण्डल प्रातिहार्य का वर्णन है।

हिन्दी पद्य

त्रैलोक्य की सब प्रभामय वस्तु जीती,
भामण्डल प्रबल है तव नाथ ! ऐसा।
नाना प्रचण्ड रवि - तुल्य सुदीप्ति धारी,
है जीतता शशि - सुशोभित रात को भी ॥३४॥

※

स्वर्गापवर्ग - गम - मार्ग - विमार्गणेष्ट,
सद्धर्म - तत्त्व - कथनैक-पटु - स्त्रिलोक्या ।
दिव्य - ध्वनिर्भवति ते विशदार्थ - सर्व-
भाषा - स्वभाव - परिणाम गुणै प्रयोज्य ॥३५॥

अन्वयार्थ

स्वर्ग—	स्वर्ग और
अपवर्ग—	मोक्ष के
गम-मार्ग—	जाने के मार्ग को
विमार्गणेष्ट —	अन्वेषण करने मे अभीष्ट,
त्रिलोक्या.—	तीनो लोको को
सद्धर्मतत्त्व—	सत्य धर्म का तत्त्व
कथनैकपटु.—	कथन करने मे अत्यन्त समर्थ,
विशदार्थ—	विशद अर्थ और
सर्व भाषा—	सर्व भाषाओ के
स्वभाव परिणाम—	स्वभाव मे परिणत होने के
गुणै —	गुणो से
प्रयोज्य.—	युक्त
ते दिव्यध्वनि.—	आपकी दिव्यध्वनि
भवति—	होती है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपकी दिव्यध्वनि स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग बताने वाली है, तीन लोक के प्राणियो को सत्य धर्म का रहस्य समझाने मे कुशल है, विशद स्पष्ट अर्थ वाली है और ससार की सभी भाषाओ मे परिणमित होने के अनि विलक्षण गुण से युक्त है । (यह दिव्यध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन है ।)

हिन्दी पद्य .

है स्वर्ग - मोक्ष - पथ - दर्शन की सुनेता,
सद्धर्म के कथन में पटु है जगो के।
दिव्यध्वनि प्रकट अर्थमयी प्रभो है,
तेरी लहे सकल मानव वोध जिस्से ॥३५॥

※

उन्निद्र - हेम-नव - पकज - पुञ्ज - कान्ती,
पर्युल्लसन्नख - मयूख - शिखा - भिरामी ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र ! धत्त
पद्मानि तत्र विवुधा परिकल्पयन्ति ॥३६॥

अन्वयार्थ

जिनेन्द्र—	हे जिनेन्द्र !
उन्निद्र—	खिले हुए
हेम—	स्वर्ण के
नव—	नवीन
पकज—	कमलो के
पुञ्ज —	समूह के समान
कान्ती—	कान्ति वाले
पर्युल्लसन्—	सर्व ओर फैलने वाली
नखमयूख—	नखो की किरणो की
शिखाभिरामी—	प्रभा से सुन्दर
तव—	आपके
पादौ—	चरण
यत्र—	जहाँ पर
पदानि—	पद
धत्तः—	रखते है
तत्र —	वहाँ पर
विवुधा —	देवगण
पद्मानि—	कमलो की
परिकल्पयन्ति	रचना करते है ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके चरण-कमल विकसित नवीन स्वर्णकमल के सदृश हैं, उनके नखो से सर्व ओर किरणें फैल रही हैं। विहार करते समय आप जहाँ-जहाँ भी पग रखते हैं, वहाँ पर भक्त देवगण पहले से ही सुवर्णमयी कमलों की रचना कर देते हैं।

हिन्दी पद्य :

फूले हुए कनक के नव पद्म के से,
शोभायमान नखकी किरणप्रभा से।
तूने जहाँ पग धरे अपने विभो हैं,
नीके वहाॅ विबुध पकज कल्पते है ॥३६॥

※

इत्थ यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र !,
धर्मोपदेशन - विधौ न तथा परस्य।
यादृक्प्रभा दिनकृत. प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकासिनोऽपि ॥३७॥

अन्वयार्थ .

जिनेन्द्र—	हे जिनेन्द्र !
तव—	आपके
धर्मोपदेशनविधौ—	धर्मोपदेश देने के समय
इत्थं—	इस प्रकार
यथा—	जैसी आठ प्रातिहार्य रूप
विभूतिः—	विभूति
अभूत्—	हुई
तथा—	वैसी
परस्य—	अन्य किसी देव की
न—	नही हुई।
प्रहतान्धकारा—	अन्धकार को नाश करने वाली

याद्दक्—	जैसी
प्रभा—	प्रभा
दिनकृतः—	सूर्य की होती है
ताद्दक्—	वैसी
विकासिनः—	चमकते हुए
अपि—	भी
ग्रहगणस्य—	तारा गणो की
कुतः ?—	कैसे हो सकती है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! धर्मोपदेश के समय समवशरण मे आठ प्रातिहार्य रूप जैसी दिव्य विभूति आपके हुई, वैसी दूसरे देवो के कभी नही हुई। यह ठीक ही है—अन्धकार का नाश करने वाली जैसी प्रभा सूर्य की होती है, वैसी चमकते हुए तारा, नक्षत्रादि मे कहाँ सम्भव है ? अर्थात् कभी सम्भव नही है।

हिन्दी पद्य :

तेरी विभूति इस भाँति विभो हुई जो,
सो धर्म के कथन मे न हुई किसी की।
होते प्रकाशित, परन्तु तमिस्र - हर्ता,
होता न तेज रवि - तुल्य कही ग्रहो का ॥३७॥

※

श्च्योतन्मदाविल-विलोल - कपोल - मूल,
मत्त-भ्रमद्-भ्रमर - नाद - विवृद्ध - कोपम्।
ऐरावताभ - मिभमुद्धतमापतन्त,
दृष्ट्वा भय भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३८॥

अन्वयार्थ

श्च्योतन्—	झरते हुए
मदाविल—	मद से मलिन

विलोल—	गीले
कपोलमूल—	कपोल मूल (गण्डस्थल) पर
मत्त—	उन्मत्त
भ्रमद्—	परिभ्रमण करते हुए
भ्रमर-नाद—	भोरो के शब्द से
विवृद्धकोपम्—	जिसका क्रोध बढ रहा है, ऐसे
ऐरावताभम्—	ऐरावत गज के समान विशाल
आपतन्तम्—	सामने आते हुए
उद्धतम्—	उद्धत
इभम्—	हाथी को
दृष्ट्वा—	देखकर भी
भवदाश्रितानाम्—	आपके आश्रित जनो को
भयम् —	भय
नो—	नही
भवति—	होता है।

भावार्थ—युवावस्था मे बहने वाले मद से मलिन एव चञ्चल गण्डस्थल पर मँडराने वाले मत्त भौंरो की गुजार से अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ऐरावत हाथी के समान विशाल मद-मत्त हाथी भी यदि आक्रमण करे तो भी आपके आश्रय मे रहने वाले भक्त जनो को कुछ भी भय नही होता है, अर्थात् ये निर्भय बने रहते हैं। आपका भक्त गज-भय से विमुक्त रहता है।

हिन्दी पद्य

दोनो कपोल झरते मद से सने हैं,
गुजार खूब करती मधुपावली है।
ऐसा प्रमत्त गज होकर क्रुद्ध आवे,
पावें न किन्तु भय आश्रित लोक तेरे ॥३८॥

※

भिन्नेभ - कुम्भ - गलदुज्ज्वल - शोणिताक्त,
मुक्ता - फल-प्रकर-भूषित - भूमि - भागः ।
बद्धक्रम क्रमगत हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रम - युगाचल - सश्रित ते ।।३९।।

अन्वयार्थ .

भिन्नेभ—	विदारण किये गये हाथी के
कुम्भगलद्—	मस्तक से झरते हुए
उज्ज्वल—	उज्ज्वल वर्ण वाले
शोणिताक्त—	रक्त से सने हुए
मुक्ताफल—	मोतियो के
प्रकर—	समूह से
भूषित	भूषित किया है
भूमिभागः —	भूमि भाग को जिसने ऐसा
बद्धक्रमः—	आक्रमण करने को उद्यत
हरिणापधि. अपि—	मृगराज (सिह) भी
क्रमगत—	पजो के मध्य मे पडे हुए
ते—	(किन्तु) आपके
क्रमयुगाचल	चरण-युगल रूप पर्वत के
संश्रितम्—	आश्रित पुरुष पर
न आक्रामति—	आक्रमण नही करता है ।

भावार्थ— जिसने बडे-बडे भीमकाय हाथियो के कुम्भस्थलो को विदारण कर रक्त से सने हुए उज्ज्वल मोतियो के ढेर मे भूभाग को भूपित किया है, और जो चौकडी बांधकर आक्रमण करने के लिए उद्यत हो रहा है ऐसा भयकर सिह भी आपके अचल चरण-युगल का आश्रय लेने वाले भक्त पर आक्रमण नही करता है । अर्थात् आपका भक्त सिह-भय से विमुक्त रहता है ।

हिन्दी पद्य :

नाना करीन्द्रदल - कुम्भ विदार के की,
पृथ्वी सुरम्य जिसने गजमोतियो से।
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उसपै,
तेरा पदाद्रि जिसका शुभ आसरा है ॥३९॥

※

कल्पान्त - काल - पवनोद्धत - वह्नि - कल्पं,
दावानलज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम् ।
विश्व जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्त,
त्वन्नाम - कीर्त्तन जलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

अन्वयार्थ :

कल्पान्तकाल— प्रलयकाल के
पवनोद्धत— पवन से उद्धत (उत्तेजित)
वह्निकल्पम् — अग्नि के सदृश
ज्वलितम्— जलती हुई
उज्ज्वलम्— धधकती हुई
उत्स्फुलिङ्गम्— ऊपर को फुलिंगे उडाने वाली
विश्वम्— समस्त ससार को
जिघत्सु— भस्म करने के
इव— समान
सम्मुखम्— सामने
आपतन्तम्— आती हुई
दावानलम्— दावाग्नि को
त्वन्नामकीर्तन जलम्— आपके नामोच्चारणरूप जल
अशेषम्— पूर्ण रूप से
शमयति— शान्त कर देता है।

भावार्थ—प्रलय काल की महा वायु के समान प्रचण्ड वायु से प्रज्वलित, धधकता और आकाश मे तिलगे फैंकता हुआ, समस्त विश्व को भस्म करने के लिए उद्यत ऐसा प्रचण्ड दावानल भी आपके नाम लेने रूप जल से क्षण भर मे शान्त हो जाता है। अर्थात् आपका भक्त अग्नि-भय से विमुक्त रहता है।

हिन्दी पद्य

झाले उठे, चहुँ उडें जलते अगारे,
दावाग्नि जो प्रलय वह्नि - समान भासे।
ससार - भस्म करने हित पास आवे,
त्वत्कीर्त्तिगान शुभ वारि उसे शमावे ॥४०॥

※

रक्तेक्षणं समद - कोकिल - कण्ठ - नीलं,
क्रोधोद्धतं फणिन - मुत्फण - मापतन्तम्।
आक्रामति क्रम - युगेन निरस्तशक—
स्त्वन्नाम - नाग - दमनी हृदि यस्य पुस ॥४१॥

अन्वयार्थ :

यस्य—	जिस
पुस —	पुरुष के
हृदि—	हृदय मे
त्वन्नाम—	आपके नाम रूपी
नागदमनी—	नागदमनी जड़ी बूटी है
(स)—	(वह)
निरस्तशङ्क —	नि शङ्क होकर
रक्तेक्षणम्—	लाल नेत्रों वाले
समदकोकिल—	मद युक्त कोयल के
कण्ठनीलम् —	कण्ठ के समान काले
क्रोधोद्धतम्—	क्रोध से फुंकारते हुए

आपतन्तम्—	सामने आते हुए
उत्फणं—	ऊपर को फन उठाये हुए
फणिनम्—	साँप को
क्रमयुगेन—	पाद-युगल से
आक्रामति	लाँघ जाता है ।

भावार्थ—जिसके हृदय मे आपके नाम रूप नागदमनी जडी है, वह पुरुष लाल नेत्र वाले कोकिलकण्ठ के समान काले क्रोध से फुकार करते, और फन को ऊँचे उठाकर सामने आते हुए भी भयकर साँप को नि शंक होकर लाँघता हुआ चला जाता है । अर्थात् (आपका भक्त सर्प-भय से मुक्त रहता है ।)

हिन्दी पद्य .

रक्ताक्ष, क्रुद्ध पिक - कण्ठ - समान काला,
फुकार सर्प फण को कर उच्च धावे ।
नि शङ्क हो जन उसे पग से उलाघे,
त्वन्नाम - नागदमनी जिसके हिये हो ।।४१।।

※

वल्गत्तुरंग - गज - गर्जित - भीम - नाद-
माजौ वल बलवतामपि - भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकर - मयूख - शिखा - पविद्धम्,
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ।।४२।।

अन्वयार्थ

आजौ—	युद्ध के मैदान मे
त्वत्कीर्तनात्—	आप के नाम का कीर्तन करने से
बलवताम्—	बलवन्त
अरि-भूपतीनाम्—	शत्रु-राजाओ के
वल्गत्—	उछलते हुए
तुरङ्ग—	घोड़े और

गज-गर्जित—	गरजते हुए हाथियो से
भीमनादम्—	भयानक शब्दवाली
बलम्—	सेना
उद्यद्दिवाकर—	उदित होते हुए सूर्य की
मयूख—	किरणो के
शिखापविद्धम्—	अग्रभाग से नष्ट हुए
तम इव—	अन्धकार के समान
आशु—	शीघ्र ही
भिदाम्—	छिन्न-भिन्न
उपैति—	हो जाती है।

भावार्थ—जिस सेना मे घोडे हिनहिना रहे हो और हाथी गरज रहे हो, भयकर कोलाहल हो रहा हो, ऐसी भी शत्रु बने हुए राजाओ की सेना आपके नाम का उच्चारण करने से ऐसी छिन्न-भिन्न हो जाती है जैसे कि सूर्य के उदित होते ही उसकी किरणो से रात्रि का अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है ! अर्थात् आपके भक्त को शत्रु-सेना का भय नही रहता।

हिन्दी पद्य :

घोडे जहाँ हिनहिने, गरजे गजाली,
ऐसे महा प्रबल शत्रु धराधिपो के।
जाते सभी बिखर हैं तुव नाम गाये,
ज्यो अन्धकार, उगते रवि के करो से ॥४२॥

※

कुन्ताग्र - भिन्न - गज - शोणित - वारिवाह-
वेगावतार - तरणातुर - योध - भीमे।
युद्धे जय विजित - दुर्जय - जेय - पक्षा-
स्त्वत्पाद - पंकज - वनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

अन्वयार्थ

कुन्ताग्र—	भालो के अग्रभाग से
भिन्न—	छिन्न-भिन्न हुए
गज—	हाथियो के
शोणित—	रक्तरूपी
वारिवाह—	जल के प्रवाह मे
वेगावतार—	वेग से उतरने और
तरणातुर—	तैरने के लिए आतुर
योधभीमे—	योद्धाओ से भयानक ऐसे
युद्धे—	युद्ध मे
त्वत्पादपपङ्कज—	आपके चरण कमल रूपी
वनाश्रयिण.—	वन का आश्रय लेने वाले पुरुष
विजित—	पराजित
दुर्जयजेयपक्षाः—	दुर्जय शत्रु पक्ष को करके
जयम्—	विजय
लभन्ते—	प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जिस युद्ध मे भालो की नोको से छिन्न-भिन्न हुए हाथियो के शरीरो से रक्त की धारा वह रही है, और जिसे पार करने मे बडे-बडे शूर वीर योद्धागण भी असमर्थ हो रहे हैं उस युद्ध मे भी आपके चरण कमल वन का आश्रय लेने वाले पुरुष शत्रु पक्ष को जीत कर विजय पाते हैं। साराश—आपका भक्त भयकर युद्ध मे भी विजय लाभ करता है।

हिन्दी पद्य

वर्छे लगे, वह रहे गज रक्त के हैं,
तालाव से विकल है तरणार्थ योद्धा।
जीते न जायँ रिपु सकट वीच ऐसे,
तेरे प्रभो चरण-सेवक जीतते है ॥४३॥

❋

अम्भोनिधौ क्षुभित - भीषण - नक्र - चक्र-
पाठीन - पीठ - भयदोल्वण - वाडवाग्नौ ।
रगत्तरग - शिखर - स्थित - यान - पात्रा-
स्त्रास विहाय भवत स्मरणाद् व्रजन्ति ।।४४।।

अन्वयार्थ

क्षुभित—	क्षोभ युक्त होने से
भीषण—	भयकर
नक्र-चक्र—	मगर-समूह और
पाठीनपीठ—	मच्छो की पीठ की टक्कर से
भयदोल्वण—	भयोत्पादक एव भयानक
वाडवाग्नौ—	वडवानल से युक्त
अम्भोनिधौ—	समुद्र मे
रङ्गत्तरङ्ग—	उत्ताल तरगो के
शिखरस्थित—	शिखर पर डगमगाते हुए
यानपात्रा.—	जहाज
भवतः—	आपके
स्मरणात्—	स्मरण से
त्रास—	भय को
विहाय—	छोड कर
व्रजन्ति—	आगे चले जाते है ।

भावार्थ—जिसमे भयानक मगर-मच्छ उछल रहे है और वडवानल (समुद्र की आग) मे जिसका पानी उबल रहा है, ऐसे भी भयानक ऊँची तरगो वाले समुद्र मे व्यापारियो के जहाज आपके स्मरण से विना किसी प्रकार के त्रास के आगे बढते हुए चले जाते हैं ।

हिन्दी पद्य :

है काल नृत्य करते मकरादिजन्तु,
त्यों वाडवाग्नि अति भीषण सिन्धु मे है।
तूफान मे पड़ गये जिनके जहाज,
वे भी प्रभो ! स्मरण से तव पार होते ॥४४॥

※

उद्भूत - भीषण - जलोदर - भार - भुग्ना
शोच्या दशामुपगताश्च्युत - जीविताशा।
त्वत्पाद - पंकज - रजोऽमृत - दिग्ध - देहा.
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज - तुल्य - रूपाः ॥४५॥

अन्वयार्थ .

उद्भूत—	उत्पन्न हुए
भीषण—	भयानक
जलोदर—	जलोदर के
भारभुग्ना —	भार से पीड़ित
शोच्यां—	शोचनीय
दशाम्—	दशा को
उपगता —	प्राप्त, तथा
च्युतजीविताशा —	छोड़ दी है जीने की आशा जिन्होंने
मर्त्या—	ऐसे भी मनुष्य
त्वत्पादपङ्कज—	आपके चरण-कमलो की
रजोऽमृत—	रजरूपी अमृत से
दिग्ध देहा.—	देह को लिप्त करके
मकरध्वज—	कामदेव के
तुल्यरूपा —	समान-रूप वाले
भवन्ति—	हो जाते हैं।

भावार्थ—जो भयकर जलोदर रोग के भार से पीडित है। लगातार औषध-सेवन करते रहने पर भी उत्तरोत्तर रोग के बढने से जिन्होने अपने जीने की आशा छोड दी है ऐसे अत्यन्त दयनीय अवस्था को प्राप्त भी पुरुष यदि आपके चरणो की धूलि को अपने शरीर पर लगाते हैं तो वे नीरोग हो कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाले हो जाते हैं। अर्थात् आपके चरण-रज से असाध्य रोगी भी नीरोग हो जाते हैं।

हिन्दी पद्य :

अत्यन्त पीडित जलोदर - भार से हैं,
है दुर्दशा, तज चुके निज जीविताशा।
वे भी लगा तव पदाब्ज रज सुधा को,
होते प्रभो ! मदनतुल्य सुरूप देही ॥४५॥

※

आपाद - कण्ठ - मुरु - शृङ्खल - वेष्टिताङ्गा,
गाढं बृहन्निगड - कोटि - निघृष्ट - जङ्घा ।
त्वन्नाम - मन्त्रमनिशं मनुजा स्मरन्त.
सद्य स्वय विगत - बन्ध - भया भवन्ति ॥४६॥

अन्वयार्थ :

आपाद कण्ठ—	पैरो से लेकर कण्ठ तक
उरुशृङ्खल—	बडी-बडी सांकलो से
वेष्टिताङ्गाः—	वेष्टित शरीर वाले
गाढम्—	अत्यन्त कस कर बाँधी गई
बृहन्निगड कोटि—	बडी-बडी बेडियो के किनारो से
निघृष्टजङ्घाः—	जिनकी जघाएं घिस गई हैं
मनुजा —	ऐसे भी मनुष्य
त्वन्नाममन्त्रम्—	आपके नामरूपी मन्त्र को
अनिश—	निरन्तर

स्मरन्त —	स्मरण करते हुए
सद्यः—	शीघ्र ही
स्वयं —	स्वय (अपने आप)
विगतबन्धभया—	बन्धन-भय से रहित
भवन्ति—	हो जाते हैं ।

भावार्थ—जो पैरो से लेकर गले तक बडी मोटी साकलो से बन्धे हुए हैं, जिनकी जाँघें वेडियो की तीक्ष्ण कोरो से छिल गई हैं, इस प्रकार से जेल खाने मे बद्ध आजन्म कैद की सजा भोगने वाले भी पुरुष आपके नाम का निरन्तर स्मरण करने पर अपने आप बन्धनो से मुक्त हो जाते हैं । यह आपके नाम का प्रभाव है ।

हिन्दी पद्य :

सारा शरीर जकडा दृढ साकलो से,
बेडी पडे छिल गई जिनकी सुजाँघें ।
त्वन्नाम मन्त्र जपते - जपते उन्हो के,
जल्दी स्वय झड़ पडे सब वन्ध बेडी ॥४६॥

※

मत्त - द्विपेन्द्र - मृगराज - दवानलाहि-
सग्राम - वारिधि - महोदर - बन्धनोत्थम् ।
तस्याशु नाशमुपयाति भय भियेव,
यस्तावक स्तवमिम मतिमानधीते ॥४७॥

अन्वयार्थ :

य —	जो
मतिमान्—	बुद्धिमान् पुरुष
तावकम्—	आपके
इमं—	इस
स्तव—	स्तोत्र को

अधीते—	पढता है
तस्य—	उसका
मत्त द्विपेन्द्र—	मत्तगजराज
मृगराज—	सिंह
दावानल—	दावाग्नि
अहि—	सर्प
सग्राम—	युद्ध
वारिधि—	समुद्र
महोदर—	जलोदर और
वन्धनोत्थम्—	वेडी-वन्धन से उत्पन्न हुआ
भयम्—	भय
भिया इव—	डर कर ही मानो
आशु—	शीघ्र
नाशम्—	नाश को
उपयाति—	प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जो उत्तम बुद्धि वाला पुरुष आपके इस स्तोत्र को भक्तिपूर्वक पढ़ता है उसका मदोन्मत्त हाथी, मृगराज, दावानल, सर्प, युद्ध, समुद्र, जलोदर और कारागार इन आठ कारणो से उत्पन्न होने वाला भय स्वय ही डर कर दूर हो जाता है। अर्थात् प्रस्तुत स्तोत्र के पाठ करने से उक्त सभी भयो से मनुष्य निर्भय रहता है।

हिन्दी पद्य

जो बुद्धिमान् इस सुस्तव को पढे है,
होके विभीत उनसे भय भाग जाता।
दावाग्नि सिन्धु अहि का रण रोग का त्यो,
पचास्य मत्तगज का, सब वन्धनो का ॥४७॥

※

स्तोत्र - स्रजं तव - जिनेन्द्र गुणैर्निवद्धा,
भक्त्या मया रुचिर-वर्ण-विचित्र - पुष्पाम् ।
धत्ते जनो य इह कण्ठगता - मजस्रं,
त मानतुङ्ग - मवशा समुपैति लक्ष्मी ।।४८।।

अन्वयार्थ

जिनेन्द्र—	हे जिनेश्वर देव !
इह—	इस लोक मे
य जन·—	जो मनुष्य
भक्त्या—	भक्तिपूर्वक
मया—	मेरे द्वारा
तव—	आप के
गुणै·—	गुणो से
निवद्धाम्—	रची गई
रुचिर—	सुन्दर
वर्ण—	वर्ण और
विचित्र—	विविध प्रकार के
पुष्पाम्—	पुष्पो वाली
स्तोत्रस्रजम्—	स्तोत्ररूपी माला को
अजस्र —	निरन्तर
कण्ठगताम्—	कण्ठ मे
धत्ते—	धारण करता है
तम्—	उस
मानतुङ्गम्—	स्वाभिमानी अथवा मानतुग पुरुष को
अवशा—	विवश होकर हठात्
लक्ष्मी.—	सर्व प्रकार की लौकिक और पारलौकिक लक्ष्मी
समुपैति—	प्राप्त होती है ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! मैंने भक्ति भाव से आपकी यह स्तोत्र माला रची है जो सुन्दर वर्णरूप पुष्पों से युक्त है। जो भक्तजन इसको कण्ठ मे धारण कर निरन्तर इसका पाठ करते हैं, वे सम्माननीय उच्च पदो को प्राप्त होते है और उन्हे भौतिक एव आत्मिक सभी प्रकार की लक्ष्मी स्वयं प्राप्त होती है।

हिन्दी पद्य .

तेरे मनोज्ञ गुण से स्तवमालिका ये,
गूँथी प्रभो ! रुचिर वर्ण सुपुष्प वाली।
मैंने सभक्ति, जन कण्ठ धरे इसे जो,
सो मानतुंग सम प्राप्त करे सुलक्ष्मी ॥४८॥

॥ आदिनाथ स्तोत्र समाप्त ॥

कल्याण-मन्दिर स्तोत्र

कल्याण - मन्दिरमुदारमवद्य - भेदि,
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रि - पद्मम् ।
ससार - सागर - निमज्जदशेषु - जन्तु,
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ।।१।।

अन्वयार्थ .

कल्याण—	कल्याण के
मन्दिरम्—	मन्दिर
उदारम्—	उदार
अवद्य—	पापो को
भेदि—	भेदन करने वाले
भीताभयप्रदम्—	ससार के दु खो से भयभीत प्राणियो को अभय देने वाले
अनिन्दितम्—	उत्कृष्ट प्रशसनीय
ससार—	ससार रूप
सागर—	समुद्र में
निमज्जदशेष—	गिरते हुए समस्त
जन्तु—	प्राणियो के लिए
पोतायमानम्—	जहाज के समान आधारभूत
जिनेश्वरस्य—	जिनेश्वरदेव के
अङ्घ्रि पद्मम्—	चरण-कमलो को
अभिनम्य—	नमस्कार करके

भावार्थ—कल्याण के मन्दिर उदार पाप के नाश करने वाले, सासारिक दुःखो के भय से आकुल प्राणियो को अभय प्रदान करने वाले, प्रशसनीय, ससार रूपी सागर मे डूबते हुए सभी प्राणियो के लिए जहाज के समान आधारभूत, श्री जिनेश्वर देव के चरण-कमलो को भलि-भाँति नमस्कार करके।

हिन्दी पद्य :

कल्याण - धाम, भय - नाशक, पाप - हारी,
त्यो है जहाज भव - सिन्धु - पड़े जनो के।
निन्दा - विहीन अति सौख्यकारी,
पादारविन्द प्रभु के नमिके उन्ही के ॥१॥

※

यस्य स्वय सुरगुरु गरिमाम्बुराशे,
स्तोत्र सुविस्तृत - मतिर् न विभुर्विधातुम्।
तीर्थेश्वरस्य कमठ - स्मय - धूमकेतो—
स्तस्याहमेष किल सस्तवन करिष्ये ॥२॥

अन्वयार्थ

गरिमां—	गम्भीरता के
अम्बुराशे.—	समुद्र
यस्य—	जिसकी
स्तोत्र—	स्तुति
विधातुम्—	करने के लिए
स्वय—	स्वय
विस्तृत—	विशाल
मति —	बुद्धि वाला
सुरगुरु.—	बृहस्पति भी
विभुः—	समर्थ
न—	नही हो सकता

कमठस्मय—	ऐसे कमठ के अहकार को नष्ट करने के लिए
धूमकेतो —	धूम केतु के समान
तस्य—	उस
तीर्थेश्वरस्य—	पार्श्वनाथ भगवान की
किल—	आश्चर्य है कि
एष अहम्—	यह मैं
सस्तवन—	स्तुति
करिष्ये—	करूँगा।

भावार्थ—जो कमठ दैत्य के अभिमान को भस्म करने के लिए धूमकेतु के समान थे, जो गुण गरिमा के अपार सागर थे, जिनकी स्तुति करने के लिए अतिशय बुद्धि शाली देवताओ का गुरु स्वय बृहस्पति भी समर्थ नही हो सका, आश्चर्य है—उन तीर्थ पति श्री पार्श्वनाथ भगवान की मैं स्तुति करूँगा ?

हिन्दी पद्य

श्री पार्श्वनाथ विभुका स्तव मैं रचूंगा,
जो नाथ हैं कमठ - विघ्न - विनाश - कर्ता।
त्यो है अशक्त जिनके स्तव को बनाने,
अत्यन्त बुद्धि - धन भी गुरु जो सुरो का ॥२॥

※

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितु स्वरूप-
मस्मादृशा कथमधीश ! भवन्त्यधीशाः।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर् यदि वा दिवान्धो,
रूप प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मे ? ॥३॥

अन्वयार्थ

अधीश—	हे स्वामिन् !
सामान्यत —	साधारण रीति से
अपि—	भी

तव—	आपके
स्वरूपम्—	स्वरूप को
वर्णयितुम्—	वर्णन करने के लिए
अस्मादृशाः—	हमारे जैसे मनुष्य
कथम्—	कैसे
अधीशा भवन्ति—	समर्थ हो सकते हैं ?
यदि वा—	जैसे
दिवान्ध.—	दिन मे अन्धा रहने वाला
कौशिक शिशुः—	उल्लू का बच्चा
धृष्टः—	धीठ होकर
अपि—	भी
किम्—	क्या
घर्म-रश्मेः—	सूर्य के
रूपम्—	स्वरूप का
प्ररूपयति किल—	वर्णन कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता ।

भावार्थ—हे नाथ ! आपके अनन्त महामहिम स्वरूप को साधारण रूप से भी वर्णन करने के लिए हमारे जैसे पामर प्राणी कैसे समर्थ हो सकते है ? दिन मे अन्धा रहने वाला उल्लू का बच्चा ढीठ क्यो न हो, क्या वह प्रचण्ड किरणो वाले सूर्य के उज्ज्वल स्वरूप का कुछ निरूपण कर सकता है ? नही कर सकता ।

हिन्दी पद्य .

तेरा स्वरूप कुछ भी कहने समर्थ,
होवे प्रभो ! किस तरा मुझ से मनुष्य ।
हो धीठ भी किस तरा पर घूक - बाल,
या घूक ही कह सके रवि का सुरूप ॥३॥

※

मोह- क्षयादनुभवन्नपि नाथ ! मर्त्यो,
नूनं गुणान् गणयितु न तव क्षमेत।
कल्पान्त वान्त - पयसः प्रकटोऽपि यस्मान्,
मीयेत केन जलेधर् ननु रत्न - राशिः ॥४॥

अन्वयार्थ

नाथ—	हे नाथ !
मर्त्य.—	मनुष्य
मोहक्षयात्—	मोहनीय कर्म के क्षय होने से
अनुभवन्—	अनुभव करता हुआ
अपि—	भी
तव—	आपके
गुणान्—	गुणो को
गणयितु—	गिनने के लिए
नूनं—	निश्चय करके
न क्षमेत—	समर्थ नही हो सकता
यस्मात्—	क्योकि
कल्पान्तवान्त पयस	प्रलय के समय जिसका जल वाहर
जलधेः—	निकल गया है ऐसे समुद्र के
प्रकटोपि—	स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने वाली
रत्नराशिः—	रत्नो की राशि
ननु—	निश्चय ही
केन—	किससे
मीयेत—	गिनी जा सकती है। अर्थात् किसी से भी नही।

भावार्थ—हे प्रभो ! मोहनीय कर्म को क्षय कर देने के पश्चात्, केवल ज्ञान के प्राप्त होने पर, महापुरुप निश्चय ही आपके गुणो को जान तो लेता

है, किन्तु उन का पूर्ण रूपेण वर्णन तो वह भी नही कर सकता। प्रलय काल मे पानी के न होने पर समुद्र की रत्नराशि स्पष्ट रूप से दिखाई तो देने लगती है, किन्तु क्या कोई उनकी गिनती भी कर सकता है ? नही कर सकता।

हिन्दी पद्य :

है जानता हृदय मे गुण मोह छूटे,
तेरे भवी गिन नही सकता परन्तु।
कल्पान्त मे जलधि के सब रत्न दीखे,
अन्दाज कौन सकता कर है उन्हों का ॥४॥

※

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ !, जडाशयोऽपि,
कर्तुं स्तव लसदसंख्य-गुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निज बाहु-युगं वितत्य,
विस्तीर्णता कथयति स्वधियाम्बुराशे ॥५॥

अन्वयार्थ :

नाथ—	हे नाथ ?
अहम्—	यद्यपि मैं
जडाशयः—	मूर्ख हूं,
अपि—	तो भी
लसद्—	सुशोभित
असख्य—	असख्य
गुणाकरस्य—	गुणो की खानि ऐसे
तव—	आपकी
स्तवं—	स्तुति
कर्तुम्—	करने के लिए
अभ्युद्यत —	उद्यत
अस्मि—	हुआ हूं, क्योकि

बालः— वालक
अपि— भी
स्व— अपनी
धिया— बुद्धि के अनुसार
निज— अपने
बाहुयुगं— दोनो हाथो को
वितत्य— फैलाकर
अम्बुराशे — समुद्र के
विस्तीर्णताम्— विस्तार को
किम्— क्या
न— नही
कथयति— कहता है ? अर्थात् कहता ही है।

भावार्थ—हे नाथ ! यह ठीक है कि मैं जडबुद्धि हूँ और आप अनन्त उज्ज्वल गुणो की खानि हैं। तथापि मैं प्रेम वश आपकी स्तुति करने के लिए तैयार हो ही गया हूँ।

यह ठीक है कि समुद्र विशाल है और वालक के हाथ वहुत छोटे हैं। फिर भी क्या बालक अपने नन्हे-नन्हें हाथो को फैला कर, अपनी कल्पना के अनुसार समुद्र के विस्तार का वर्णन नही करता ? अवश्य करता है।

हिन्दी पद्य :

तू है असंख्य गुण-शोभित मूढ हूँ मैं,
तेरा तथापि रचने स्तव मैं खडा हूँ।
फैला भुजा स्वमति के अनुसार क्या है,
विस्तीर्णता न निधि की शिशु भी वताता ॥५॥

❋

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश !
वक्तु कथ भवति तेषु ममावकाशः ?
जाता तदेवमसमीक्षित-कारितेय,
जल्पन्ति वा निज-गिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥६॥

अन्वयार्थ

ईश—	हे भगवन्!
ये—	जो
तव—	अ.पके
गुणा —	गुण हैं, वे
योगिनाम्—	योगियो द्वारा
अपि—	भी
वक्तु—	कहे
न—	नही
यान्ति—	जा सकते । तव
तेषु—	उन मे
मम—	मेरा
कथम्—	कैसे
अवकाश —	अवकाश (शक्ति)
भवति—	हो सकता है ?
तत्—	इसलिए
एव इयम्—	इस प्रकार यह
असमीक्षित कारिता—	बिना विचारे ही कार्य करना हुआ
वा—	अथवा ठीक ही है
ननु—	निश्चय से
निजगिरा—	अपनी वाणी के द्वारा
पक्षिणोऽपि—	पक्षी भी तो
जल्पन्ति—	वोला करते ही है।

भावार्थ—हे जगत के स्वामी! जब कि आपके गुणो का यथार्थ रूप से वर्णन करने मे बडे-बडे प्रसिद्ध योगी भी समर्थ नही हो सकते हैं, तव भला मेरी तो शक्ति ही क्या है? यह स्तुति का कार्य, मैंने बिना विचारे ही शुरू कर दिया है। वस्तुत यह कार्य मेरी पहुँच के वाहर है।

अरे मैं हताश क्यो होता हूं ? शक्ति नही तो क्या है यथाशक्य प्रयत्न तो करूँगा। पक्षियो को मनुष्य की भाषा मे वोलना नही आता, तो क्या हुआ ? वे अपनी अस्पष्ट भाषा मे ही वोलकर काम चला लेते है।

हिन्दी पद्य :

योगीश भी गिन नही सकते गुणो को,
तेरे प्रभो ! फिर भला मम क्या चलाई ?
मेरी हुई यह मुनीश विना विचारी,
या वोलते विहग भी अपनी गिरा से ॥६॥

※

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! सस्तवस्ते,
नामाऽपि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहत-पान्थ-जनान् निदाघे,
प्रीणाति पद्म-सरस सरसोऽनिलोऽपि ॥७॥

अन्वयार्थ

जिन—	हे जिनेन्द्र !
अचिन्त्य—	चिन्तन मे नही आने योग्य है
महिमा—	महिमा जिनकी, ऐसी
ते—	आपकी
सस्तव —	स्तुति तो
आस्ताम्—	दूर रहे (किन्तु)
भवत.—	आपका
नाम—	नाम मात्र
अपि—	भी
भवतः —	ससार से
जगन्ति —	लोगो को
पाति—	वचा लेता है, क्योकि

निदाघे—	ग्रीष्म ऋतु में
तीव्र—	भयकर
आतपोपहत—	आतप-धूप से सताये हुए
पान्थजनान्—	पथिक जनो को
पद्म सरसः—	कमलो के सरोवर का
सरसः—	सरस शीतल
अनिलः—	पवन
अपि—	भी
प्रीणाति—	सन्तुष्ट कर देता है।

भावार्थ—हे राग द्वेष के विजेता जिन ! आपके अचिन्त्य महिमा वाले स्तवन के महत्त्व का तो कहना ही क्या है, यहाँ तो केवल आपका नाम ही त्रिभुवन के प्राणियो को दु ख से बचा सकता है।

गर्मी के दिनो मे भयकर धूप से व्याकुल हुए मुसाफिरो को आनन्द प्रदान करने वाले कमल सरोवर का तो कहना ही क्या है, उसकी केवल ठण्डी हवा ही उन्हे तृप्त कर देती है।

हिन्दी पद्य :

माहात्म्य तो स्तवनका तव है अचिन्त्य,
है नाम ही त्रिजग को भव से बचाता।
जो ग्रीष्म मे पथिक आतप से सताये,
देती उन्हे सुख सरोवर की हवा ही ॥७॥

✻

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति,
जन्तो. क्षणेन निविडा अपि कर्म-बन्धा ।
सद्यो भुजंगम-मया इव मध्य-भाग—
मभ्यागते वन-शिखण्डिनि चन्दनस्य ॥८॥

अन्वयार्थ :

विभो—	हे प्रभो !
त्वयि—	आप जव
जन्तो·—	प्राणियो के
हृद्वर्तिनि—	हृदय मे निवास करते हैं तव उनके
निविडा—	सघन
कर्म—	कर्मों के
वन्धा·—	वन्धन
क्षणेन—	क्षण भर मे
अपि—	ही
शिथिली—	ढीले
भवन्ति—	हो जाते हैं। जैसे
वनशिखण्डिनी—	वन मयूर के
अभ्यागते—	आने पर
चन्दनस्य—	चन्दन वृक्ष के
मध्यभागम्—	मध्य भाग मे लिपटे हुए
भुजंगम मया इव—	भयकर सर्प
सद्य·—	तत्काल
शिथिलीभवन्ति—	ढीले पड जाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! जव आप ध्यान-शील भक्त के हृदय मे विराजमान हो जाते हैं, तव उसके भयकर से भयकर कर्म-वन्धन भी तत्काल ही शिथिल हो जाते हैं। अर्थात् ढीले पड जाते हैं।

वन मयूर ज्यो ही चन्दन के वृक्ष की ओर आता है, त्यो ही चन्दन पर लिपटे हुए भयकर सर्प सहसा शिथिल हो जाते हैं। अर्थात् भागने लगते हैं। क्योकि मयूर के सामने सर्प ठहर नही सकते।

हिन्दी पद्य :

तू लोक के हृदय मे यदि हो विभो ! तो,
ढीले तुरन्त पडते दृढ कर्म-बन्ध।
आया मयूर वनका कि भुजग जैसे,
ढीले पडे तुरत चन्दन बन्ध छोड ॥८॥

※

मुच्यत एव मनुजा सहसा जिनेन्द्र !
रौद्रै रूपद्रव-शतै त्वयि वीक्षितेऽपि।
गो-स्वामिनि स्फुरित तेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशु पशव प्रपलायमानै ॥९॥

अन्वयार्थ

जिनेन्द्र—	हे जिनेन्द्र !
स्फुरित तेजसि—	बलवान् और तेजस्वी
गोस्वामिनि—	गोपालक को
दृष्टमात्रे—	देखते ही
आशु प्रपलायमानै—	शीघ्र भागते हुए
चौरैः पशव. इव—	चौरो के पजे से जैसे पशु गण छूट जाते हैं, उसीप्रकार
त्वयि—	आपके
वीक्षितेऽपि—	दर्शन करते ही
मनुजा —	मनुष्य
रौद्रै —	महा भयकर
उपद्रवशतैः—	सैकड़ो उपद्रवो से
सहसा—	शीघ्र
एव—	ही
मुच्यन्ते—	मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके दर्शन मात्र से भक्त जन सैकडो भयकर उपद्रवो से शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। आपके दर्शन और सकट ? यह मेल ही नही वैठता।

गाँव के पशुओ को चोर रात्रि मे चुराकर ले जाते है, किन्तु ज्यो ही वलवान तेजस्वी ग्वाला दिखाई देता है, त्यो ही पशुओ को छोडकर वे झटपट भाग खडे होते हैं। मालिक के सामने कही चोर ठहर सकते हैं ?

हिन्दी पद्य

त्यागें अवश्य सहसा तुझको विलोके,
लाखो उपद्रव महेश्वर मानवो को।
तेजस्वि गोपति विलोकन-मात्र से ही,
ज्यो चोर छोड़ भगते पशु-वृन्दको हैं ॥९॥

※

त्वं तारको जिन ! कथ भविना त एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त.।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेप नून—
मन्तर्गतस्य मरुत स. किलानुभाव ॥१०॥

अन्वयार्थ :

जिन—	हे जिनेन्द्र !
त्वम्—	आप
भविना—	ससारी जीवो के
तारक —	तारक
कथम्—	कैसे हो सकते हैं ?
यत्—	क्योकि
उत्तरन्त —	ससार समुद्र से पार होते हुए
त —	वे ससारी जीव
एव—	ही

हृदयेन—	हृदय से
त्वाम्—	आपको
उद्वहन्ति—	तिरा कर ले जाते है । सो ठीक ही है ।
यद्वा—	क्योकि
यत्—	जो
दृतिः—	मसक
जल—	जल मे
तरति—	तैरती है
स—	वह
नूनम्—	निश्चय
एव—	ही
अन्तर्गतस्य—	उसके अन्दर भरी हुई
मरुत —	वायु का
किल—	ही
अनुभावः—	प्रभाव है ।

भावार्थ—हे जिनेश्वर देव ! आप भव्य जीवो को ससार सागर से पार उतारने वाले तारक कैसे वन सकते है ? क्यो कि भव्य जीव जव ससार सागर से पार उतरते हैं, तव वही आपको अपने हृदय मे धारण करते हैं, आप उनको कहाँ धारण करते है ? हाँ ठीक है—समझ मे आ गया । अन्दर मे पवन से भरी हुई मशक जव जल मे तैरती है, तव वह अन्दर मे स्थित पवन के प्रभाव से ही तो तैरती है, स्वय कहाँ तैरती है ?

हिन्दी पद्य

तू तारता किस तरा भवि मानवो को,
वे ही तुझे हृदय मे रखके तिराते ।
या वारि मे मसक जो तिरती विभो ! है,
सो है प्रभाव वस भीतर की हवा का ॥१०॥

※

यस्मिन् हर-प्रभृतयोऽपि हत-प्रभावा,
सोऽपि त्वया रति-पति. क्षपित. क्षणेन ।
विध्यापिता हुत-भुज पयसाऽथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धर-वाडवेन ॥११॥

अन्वयार्थ

यस्मिन्—	जिसके विषय मे
हरप्रभृतय—	हरि-हरादि देव
अपि—	भी
हत प्रभावाः—	पराजित हो गये हैं
स.—	वह
रतिपति —	कामदेव
अपि—	भी
त्वया—	आपके द्वारा
क्षणेन—	क्षण मात्र मे
क्षपित·—	नष्ट कर दिया गया । सो ठीक ही है–
अथ—	क्यो कि
येन —	जिस
पयसा—	जल से
हुतभुज —	अग्नि
विध्यापिता—	बुझायी जाती है
तत्—	वह जल
अपि—	भी
किम् —	क्या
दुर्द्धर—	प्रचण्ड
वाडवेन—	वडवानल से
न पीतं—	नही पिया गया ? अर्थात् उस जल को क्या वडवानल नही सोखता है ? अवश्य सोखता है ।

भावार्थ –हे देव ! जिस कामदेव को जीतने मे सुप्रसिद्ध हरि-हर आदि देव भी पराजित हो गये, उसी त्रिभुवन विजयी कामदेव को आप ने क्षण भर मे नष्ट कर दिया। यह महान् आश्चर्य है।

अथवा इसमे आश्चर्य की क्या बात है ? जो जल ससार के समस्त अग्नि काण्डो को बुझाकर शान्त कर सकता है, उसी जल को क्या समुद्र का प्रचण्ड वडवानल जलाकर नष्ट नही कर देता है ? अवश्य कर देता है।

हिन्दी पद्य .

जिस्पै प्रभाव चलता न वडे सुरो का,
तूने किया वश विभो ! उस काम को भी।
देता बुझा सलिल सो सव वह्नियो को,
सो वाडवाग्नि पर जोर चला न सकता ॥११॥

※

स्वामिन्ननल्प-गरिमाणमपि प्रपन्नास्—
त्वा जन्तव' कथमहो हृदये दधाना' ?
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन,
चिन्त्यो न हन्त महता यदि वा प्रभाव ॥१२॥

अन्वयार्थ :

स्वामिन् हे भगवन् !
अहो— आश्चर्य है कि
अनल्प— वडे भारी
गरिमाणम् अपि गौरव को प्राप्त ऐसे
त्वा प्रपन्ना — आपको पाकर
हृदये— हृदय मे
दधाना — धारण करते हुए
जन्तव — जीव
जन्म— समार रूपी

उदधि—	समुद्र को
अति—	बहुत ही
लाघवेन—	लघुता से—शीघ्रता से
कथम्—	कैसे
लघुतरन्ति—	शीघ्र तिर जाते हैं ?
यदि वा—	अथवा
हन्त—	आश्चर्य की बात है कि
महता—	महापुरुषो का
प्रभाव —	प्रभाव
चिन्त्यो—	चिन्तन मे
न—	नही
भवति—	आता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! बड़े भारी आश्चर्य की बात है कि अनन्तानन्त गरिमा—गुरुता वाले आपको, अपने हृदय मे धारण करके भी भक्त-जन बहुत हलके रहते हैं, और ससार समुद्र को झटपट पार कर जाते हैं। इतना भार उठाकर भी इतना हल्कापन ? महान् आश्चर्य !

अथवा इसमे आश्चर्य की क्या बात है ? महापुरुषो का प्रभाव अचिन्त्य होता है। वे जो कुछ भी कर के दिखादें, वह सब सम्भव है। उनका प्रत्येक कार्य चमत्कारमय एव रहस्य पूर्ण होता है।

हिन्दी पद्य

अत्यन्त गौरव विभो ! तुझमे दिखाता,
कैसे तुझे फिर धरे हिय मे मनुष्य।
ससार-सिन्धु तरते श्रम के बिना ही,
जाना प्रभाव नहिं जाय महाजनो का ॥१२॥

※

क्रोधस्त्वया यदि विभो ! प्रथम निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा वद कथ किल कर्म-चौरा ?
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिराऽपि लोके,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न कि हिमानी ॥१३॥

अन्वयार्थ .

विभो—	हे प्रभो !
यदि—	यदि
त्वया—	आपने
क्रोध —	क्रोध को
प्रथम—	पहले ही
निरस्तः—	नष्ट कर दिया है,
तदा वद—	तब बताइये
कर्म चौराः—	कर्म रूपी चोरो को
कथम्—	कैसे
ध्वस्तः किल—	नष्ट किया ?
लोके—	लोक मे
यदि वा अमुत्र—	अथवा ऐसा भी तो होता है कि
हिमानी —	बर्फ अर्थात् पाला
शिशिरापि—	ठण्डा होने पर भी
किम्—	क्या
नील द्रुमाणि—	हरे-भरे हैं वृक्ष है जिनमे, ऐसे
विपिनानि—	वनो को
न प्लोषति—	नही जला देता है ? अर्थात् जला ही देता है ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आपने क्रोध को तो पहले ही नष्ट कर दिया था, तब फिर कर्म शत्रुओ को कैसे नष्ट किया ? क्योकि बिना रोष के भला कोई किसी को कैसे नष्ट कर सकता है ? नही कर सकता ।

अहो, मैं ही भूल रहा हूँ ? क्यो कि क्रोध की अपेक्षा क्षमा की शक्ति अतुल्य है । आग की अपेक्षा बर्फ की शक्ति ही तो महान् है । हम देखते है कि जब शीत-काल मे अत्यधिक शीत होने के कारण हिम-पाला पडता है, तब हरे-भरे वृक्षो वाले सघन वन भी जल कर ध्वस्त हो जाते हैं ।

हिन्दी पद्य

तूने प्रभो प्रथम ही यदि रोष मारा,
मारे वता किस तरा फिर कर्म-चोर।
या लोक मे इस जगा नहि क्या जलाता,
पाला सुशीतल, हरे तरु के वनो को ।।१३।।

※

त्वा योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूप—
मन्वेषयन्ति हृदयाम्वुज-कोश-देशे ।
पूतस्य निर्मलरुचे यंदि वा किमन्य—
दक्षस्य सम्भविपद ननु कर्णिकाया ।।१४।।

अन्वयार्थ

जिन—	हे जिन !
योगिन —	योगी, महात्मा जन
सदा—	निरन्तर
परमात्मरूपं—	परमात्न स्वरूप
त्वां—	आपको
हृदय—	अपने हृदय
अम्वुज—	कमल के
कोशदेशे—	मध्य भाग मे
अन्वेषयन्ति—	ढूंढते हैं ।
यदि वा—	अथवा
पूतस्य—	पवित्र
निर्मल रुचे.—	निर्मल कान्ति वाले
अक्षस्यसम्भवि पद—	कमल वीज का उत्पति स्थान अथवा शुद्धात्मा की खोज करने का स्थान
कर्णिकायाः—	हृदय कमल की कर्णिका को छोडकर
ननु अन्यत् किम्—	निश्चय से अन्य क्या हो सकता है ।

भावार्थ—हे जिन ! आप परमात्म-स्वरूप है, कर्म मल से रहित शुद्ध आत्म-स्वरूप हैं। अत बड़े-बडे योगी लोग अपने हृदय-कमल की कर्णिका मे आपको खोजते हैं, आपका ध्यान करते हैं।

जैसे कमल के अक्ष-वीज का स्थान कमल की कर्णिका है, उसी प्रकार आप भी जब कर्म-मल से रहित होकर पवित्र निर्मल कान्ति वाले अक्ष-परमात्मा बन गये तो आपका स्थान भी हृदय-कमल की कर्णिका को छोडकर अन्यत्र कहाँ हो सकता है ? अक्ष तो कमल की कर्णिका मे ही मिलेगा न ?

हिन्दी पद्य

स्वामिन् सदा हृदय के विच हेरते है,
योगीन्द्र भी तुझ परात्पर देवता को।
क्या कर्णिका तज कही दुसरी जगा पै,
होता पवित्र अति निर्मल पद्म-वीज ॥१४॥

※

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविन क्षणेन,
देह विहाय परमात्म—दशा व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदा ॥१५॥

अन्वयार्थ

जिनेश—	हे जिनेश !
भविन —	ससारी जीव
भवत —	आपके
ध्यानात्—	ध्यान से
क्षणेन—	क्षण भर मे
देहम्—	शरीर को
विहाय—	छोडकर
परमात्म दशाम्—	परमात्मा की अवस्था को

व्रजन्ति—	प्राप्त कर लेते हैं
लोके—	(जैसे) लोक मे
धातु-भेदा—	विविध धातुएँ
तीव्रानलात्—	तीव्र अग्नि के संयोग से
उपलभावम्—	पत्थर के रूप को
अपास्य—	छोडकर
अचिरादिव—	शीघ्र ही
चामीकरत्वम्—	सुवर्ण के रूप को
(व्रजन्ति)—	प्राप्त कर लेती है।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! विशुद्ध हृदय से आपका ध्यान करने से, संसार के भव्य जीव, शीघ्र ही इस शरीर को छोडकर शुद्ध परमात्म दशा को प्राप्त कर लेते हैं।

ससार मे हर कोई देखता है कि प्रचण्ड अग्नि का सम्पर्क पाते ही सुवर्ण धातु अपने साथ सलग्न पाषाण आदि अन्य धातुओ को छोड़कर शीघ्र ही अपने सुवर्णत्वरूप शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाती है।

हिन्दी पद्य

हे नाथ! ध्यान करके भवि लोक तेरा,
पाते तुरन्त तन छोड परेशता को।
तीव्राग्नि ताप-वश पत्थर-भाव छोड,
पाते सुवर्णपन धातु विशेष ज्यो है ॥१५॥

※

अन्त सदैव जिन! यस्य विभाव्यसे त्व,
भव्यै कथं तदपि नाशयसे शरीरम्?
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि,
यद्विग्रह प्रशमयन्ति महानुभावा. ॥१६॥

अन्वयार्थ

जिन—	हे जिनेन्द्र !
भव्यै —	भव्य जीवो के द्वारा
यस्य—	जिम शरीर के
अन्त —	भीतर
त्वम्—	आप
सदैव—	हमेशा ही
विभाव्यसे—	ध्याये जाते हैं
तत्—	उस
शरीरम्—	शरीर को
अपि—	ही आप
कथम्—	क्यो
नाशयसे—	नाश करा देते हैं ?
अथ—	अथवा
एतत्—	यह
स्वरूप हि—	स्वभाव ही हैं
यत्—	कि
मध्य-विवर्तिन·—	मध्यवर्ती
महानुभावाः—	महापुरुष
विग्रह—	विग्रह को अर्थात् उपद्रव को
प्रशमयन्ति—	शान्त ही करते हैं ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जिस शरीर के मध्य भाग (हृदय) मे भव्य प्राणी आपका निरन्तर ध्यान करते हैं, आश्चर्य है, आप उसी श ीर को नष्ट करने का उपदेश देते हैं ? यह कैसी विपरीत गति है ? कुछ समझ मे नही आता ।

अथवा आपका यह कार्य सर्वथा उचित ही है । जव महापुरुष मध्यस्थ हो जाते हैं, वीच मे पड जाते हैं, तो विग्रह (शरीर और कलह) को पूर्णतया समाप्त करा देते हैं ।

हिन्दी पद्य :

ध्याते सुभव्य तुझको जिसमे सदा ही,
कैसे विनाश करता उस देह का तू ?
मध्यस्थका यह मनोहर रूप ही है,
या नाथ, जो विकट विग्रह को नशावे ॥१६॥

※

आत्मा मनीषिभिरय त्वदभेदबुद्ध्या,
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः ।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमान,
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥१७॥

अन्वयार्थ :

जिनेन्द्र— हे जिनेन्द्र !
इह— इस लोक मे
मनीषिभिः— बुद्धिमान पुरुषो द्वारा
त्वद् — आपसे
अभेद-बुद्ध्या— अभिन्न बुद्धि से
ध्यातः— ध्यान किया हुआ
अयम् आत्मा— यह आत्मा
भवद्— आप जैसा ही
प्रभावः— प्रभावशाली
भवति— हो जाता है।
अमृत इति— यह अमृत है ऐसा
अनुचिन्त्यमानं— विश्वास करने से (पिया गया)
पानीयमपि— पानी भी
किम्— क्या
विष— विष के
विकारं— विकार को
नो— नही
अपाकरोतिनाम— दूर कर देता है ?

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जब अध्यात्म चेतना वाले मनीषी पुरुष अपनी आत्मा का आपसे अभेद रूप मे, अर्थात् परमात्मरूप मे ध्यान करते हैं, तो उनकी वही साधारण आत्मा भी आप जैसी ही प्रभाव शाली परमात्मरूप बन जाती है, अर्थात् परमात्मा बन जाती है ।

पानी को भी यदि सर्वथा अभेदबुद्धि से अमृत समझ कर उपयोग में लाया जाय तो क्या वह अमृत के समान विष के विकार को दूर नही करता है ? करता ही है ।

हिन्दी पद्य

तेरे समान जगदीश ! प्रभाव वाला,
आत्मा बने भज तुझे तज भिन्न भाव ।
पीयूष भाव धर मन्त्रित वारि जो है,
सो दूर क्या न करता विष के विकार ॥१७॥

※

त्वामेव वीततमस परवादिनोऽपि,
नून विभो हरिहरादिधिया प्रपन्ना ।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शंखो;
नो गृह्यते विविधवर्ण - विपर्ययेण ॥१८॥

अन्वयार्थ

विभो—	हे स्वामिन् !
वीततमसं—	अज्ञान रूप अन्धकार से रहित
त्वाम्—	आपको
एव—	ही
परवादिन —	अन्य मतावलम्बी पुरुष
अपि—	भी
ननु—	निश्चय से
हरिहरादिधिया—	विष्णु महादेवादि की बुद्धि से

प्रपन्न'—	पूजते है।
ईश—	हे ईश
काचकामलिभिः—	काच कामला (पीलिया) रोग वाले पुरुषो के द्वारा
किम्—	क्या
सितः—	सफेद
शंख—	शख
अपि—	भी
विविध—	अनेक प्रकार के
वर्ण-विपर्ययेण—	विपरीत वर्णों से
नो गृह्यते—	ग्रहण नही किया जाता है ? अर्थात् किया ही जाता है।

भावार्थ—हे प्रभो ! दूसरे मतो के मानने वाले लोगो ने भी आप वीत-राग देव को ही अपने हरि-हर देवताओ के रूप मे स्वीकार कर रखा है।

जिस मनुष्य को पीलिया रोग हो जाता है, क्या वह बिलकुल स्वच्छ श्वेत वर्ण के शख को भी वर्ण विपर्यय के द्वारा नीला पीला आदि अनेक वर्ण रूप नही देखने लगता है ? अवश्य देखने लगता है।

हिन्दी पद्य ·

तू वीतराग विभु है, भजते तुझे ही,
नाना-मती हरि-हरादिक भाव से हैं।
हो दृष्टि भेद जिनमे उनको विभो, क्या
है दीखता विविध रगत का न शख ॥१८॥

※

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा—
दास्ता जनो भवति ते तरुरप्यशोक।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि,
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोक ॥१९॥

अन्वयार्थ :

धर्मोपदेश—	धर्मोपदेश के
समये —	समय मे
ते—	आपकी
सविधानुभावात्—	सन्निकटता के प्रभाव से
जन' आस्ता—	मनुष्य तो दूर रहे
तरुः—	वृक्ष
अपि—	भी
अशोक'—	अशोक
भवति—	हो जाता है।
वा—	अथवा
दिनपतौ—	सूर्य के
अभ्युद्गते—	उदय होने पर
समहीरुहोऽपि—	वृक्षादि के भी साथ
जीवलोकः—	समस्त जीव लोक (ससार)
किम्—	क्या
विवोधं—	विकास को
न उपयाति—	नही प्राप्त होता है ?

भावार्थ—हे प्रभो ! जिस समय आप धर्मोपदेश करते है, उस समय आपके सत्सग के प्रभाव से वृक्ष भी अशोक हो जाता है, तव फिर मानव समाज के अशोक अर्थात् शोक-रहित होने मे तो आश्चर्य ही किस वात का है।

जव प्रात काल सूर्य उदय होना है, तव केवल मानव समाज ही निद्रा त्याग कर प्रवुद्ध होता है यह वात नही, अपितु कमलादि समस्त जीव-लोक भी प्रवुद्ध हो जाता है। यह अशोक वृक्ष प्रातिहार्य का वर्णन है।

हिन्दी पद्य

धर्मोपदेश करता जब तू, जनो की—
क्या बात नाथ ! बनता तरु भी अशोक।
होता प्रकाश जव सूरज का नहीं क्या,
पाता प्रबोध तरु-सयुत जीव लोक ॥१६॥

❋

चित्र विभो ! कथमवाङ्मुख-वृन्तमेव,
विष्वक् पतत्यविरला सुर-पुष्प-वृष्टि ।
त्वद्गोचरे सुमनसा यदि वा मुनीश !
गच्छन्ति नूनमध एव हि वन्धनानि ॥२०॥

अन्वयार्थ

विभो—	हे स्वामिन् !
चित्रम्—	आश्चर्य है कि
विष्वक्—	चारो ओर
अविरला—	अविरल (विरलता-रहित सघन)
सुरपुष्प वृष्टि.—	देवताओ के द्वारा की गई पुष्प वृष्टि
अवाङ्मुखवृन्तम्—	नीचे डण्ठल और ऊपर को है पाखुरी जिसकी
कथम्—	ऐसी क्यो
पतति—	गिरती है ?
यदि वा—	अथवा ठीक ही है
मुनीश—	हे मुनीश !
त्वद्—	आपके
गोचरे—	समक्ष
सुमनसां—	सुमनसो—पुष्पो अथवा उत्तम हृदय वाले पुरुषो के

वन्धनानि—	वन्धन
नून —	निश्चय से
हि—	ही
अध—	नीचे को
एव—	ही
गच्छन्ति—	जाते है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! महान् आश्चर्य है कि आपके समवशरण मे देवताओं द्वारा सव ओर से की जाने वाली अविरल पुष्प वर्षा के पुष्प सब के सव अपने डण्ठल नीचे की ओर किये हुए ऊर्ध्व मुख ही पडते है । एक भी ऐसा पुष्प नही, जो ऊपर की ओर डण्ठल किये अधोमुख पडता हो ।

हाँ ठीक है, मैं समझ गया । हे मुनीश ! जव भी कोई सुमन आपके पास आता है, तो उसके वन्धन सदा नीचे की ओर ही खिसकते है, कभी भी ऊपर की ओर ऊभर नही सकते । यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन है ।

हिन्दी पद्य

आश्चर्य किस तरा सुर-पुष्प वृष्टि,
स्वामिन् ! निरन्तर अवाड्-मुख हो रही है ।
है या तुझे सुमन ये जव देख पाते,
जाते तभी सकल वन्धन नाथ नीचे ॥२०॥

❋

स्थाने गभीर-हृदयोदधि-सम्भवाया,
पीयूषता तव गिर समुदीरयन्ति ।
पीत्वा यत परम-सम्मद-सग भाजो,
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

अन्वयार्थ

गम्भीर—	गम्भीर
हृदय—	हृदय रूपी
उदधि—	समुद्र से

सम्भवाया·— पैदा हुई
तव— आपकी
गिरः— वाणी को ज्ञानी पुरुष
पीयूषता समुदीरयन्ति—अमृत की उपमा देते है
यतः— क्योकि
भव्याः— भव्य प्राणी
ताम्— उसे
पीत्वा— पीकर
परम— श्रेष्ठ
संमद सग भाज·— आनन्द को प्राप्त करते हुए
तरसापि— वहुत ही शीघ्र
अजरामरत्व— अजर अमर पद को
व्रजन्ति— प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! आपके गम्भीर हृदय रूपी समुद्र से उत्पन्न होने वाली आपकी मधुर वाणी को ज्ञानी पुरुष जो अमृत की उपमा देते है, वह उचित ही है।

क्यो कि जिस प्रकार मनुष्य अमृत का पान कर अजर अमर हो जाते हैं, उसी प्रकार भव्य प्राणी भी आपके वचनामृत का पान करके शीघ्र ही परम आनन्द से युक्त होकर अजर अमर हो जाते हैं। जन्म जरा और मरण के दु खो से छूट कर सदा के लिए सच्चिदानन्द सिद्ध हो जाते हैं। यह दिव्य ध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन है।

हिन्दी पद्य

'तेरी गिरा अमृत है' यह जो कहाता,
है योग्य, क्योकि हृदयोदधि से उठी है।
पीके तथा मद भरे जन भी उमे है,
होते तुरन्त अजरामर सौख्य-धाम ॥२१॥

वन्धनानि—	वन्धन
नून —	निश्चय से
हि—	ही
अध—	नीचे को
एव—	ही
गच्छन्ति—	जाते हैं।

भावार्थ—हे भगवन्! महान् आश्चर्य है कि आपके समवशरण मे देवताओ द्वारा सव ओर से की जाने वाली अविरल पुष्प वर्षा के पुष्प सव के सव अपने डण्ठल नीचे की ओर किये हुए ऊर्ध्व मुख ही पडते है। एक भी ऐसा पुष्प नही, जो ऊपर की ओर डण्ठल किये अधोमुख पडता हो।

हाँ ठीक है, मैं समझ गया। हे मुनीश! जव भी कोई सुमन आपके पास आता है, तो उसके वन्धन सदा नीचे की ओर ही खिसकते है, कभी भी ऊपर की ओर ऊभर नही सकते। यह पुष्पवृष्टि प्रातिहार्य का वर्णन है।

हिन्दी पद्य

आश्चर्य किस तरा सुर-पुष्प वृष्टि,
स्वामिन्! निरन्तर अवाङ्-मुख हो रही है।
है या तुझे सुमन ये जव देख पाते,
जाते तभी सकल वन्धन नाथ नीचे ॥२०॥

※

स्थाने गभीर-हृदयोदधि-सम्भवाया,
पीयूषता तव गिर समुदीरयन्ति।
पीत्वा यत परम-सम्मद-सग भाजो,
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

अन्वयार्थ

गम्भीर—	गम्भीर
हृदय—	हृदय रूपी
उदधि—	समुद्र से

सम्भवायाः—	पैदा हुई
तव—	आपकी
गिर —	वाणी को ज्ञानी पुरुष
पीयूषता समुदीरयन्ति—	अमृत की उपमा देते हैं
यत.—	क्योकि
भव्या.—	भव्य प्राणी
ताम्—	उसे
पीत्वा—	पीकर
परम—	श्रेष्ठ
समद सग भाज.—	आनन्द को प्राप्त करते हुए
तरसापि—	वहुत ही शीघ्र
अजरामरत्व—	अजर अमर पद को
व्रजन्ति—	प्राप्त होते है ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके गम्भीर हृदय रूपी समुद्र से उत्पन्न होने वाली आपकी मधुर वाणी को ज्ञानी पुरुष जो अमृत की उपमा देते है, वह उचित ही है।

क्यो कि जिस प्रकार मनुष्य अमृत का पान कर अजर अमर हो जाते हैं, उसी प्रकार भव्य प्राणी भी आपके वचनामृत का पान करके शीघ्र ही परम आनन्द से युक्त होकर अजर अमर हो जाते हैं। जन्म जरा और मरण के दु खो से छूट कर सदा के लिए सच्चिदानन्द सिद्ध हो जाते हैं। यह दिव्य ध्वनि प्रातिहार्य का वर्णन है।

हिन्दी पद्य

'तेरी गिरा अमृत है' यह जो कहाता,
है योग्य, क्योकि हृदयोदधि से उठी है।
पीके तथा मद भरे जन भी उसे है,
होते तुरन्त अजरामर सौख्य-धाम ।।२१।।

※

स्वामिन् ! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो,
मन्ये वदन्ति शुचय. सुर-चामरौघा. ।
येऽस्मै नति विदधते मुनि-पुगवाय
ते नूनमूर्ध्वगतय खलु शुद्धभावा ॥२२॥

अन्वयार्थ :

स्वामिन्—	हे स्वामिन् !
मन्ये—	मैं मानता हूँ
शुचयः—	पवित्र
सुर चामरौघाः—	देवताओ द्वारा ढुलाए जाने वाले श्वेत चवर
सुदूर अवनम्य—	अति नीचे को झुककर पुन ऊपर को उठते हुए
वदन्ति—	लोगो से कह रहे हैं कि
ये—	जो
अस्मै	इन
मुनिपुङ्गवाय—	श्रेष्ठ मुनीन्द्र को
नतिं—	नमस्कार
विदधते—	करते है
ते—	वे पुरुष
नूनं—	निश्चय करके
शुद्धभावाः—	विशुद्ध परिणाम वाले
खलु—	होकर
ऊर्ध्वगतयः—	निश्चय ऊर्ध्वगति को प्राप्त
भवन्ति—	होते हैं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! देवताओ द्वारा ढुलाए जाने वाले पवित्र श्वेत चवर आपके प्रति अति नीचे झुककर, पुन रहस्यपूर्ण ढग से जनता को मौन सूचना देते हुए ऊपर की ओर उठते है ।

वे यह सूचना देते हैं कि जो भी व्यक्ति इस ससार के सर्वश्रेष्ठ महामुनि को भक्तिपूर्वक नम्र होकर नमस्कार करते हैं, वे निश्चय ही शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर ऊर्ध्व गति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् नियम से मोक्ष मे जाते हैं। यह चमर अतिशय का वर्णन है।

हिन्दी पद्य

हे नाथ ! दूर नभ के उडते हुए ये,
मानो यही कह रहे सुर-चामरौघ।
'जो हैं प्रणाम करते इस नाथ को हैं,
वे शुद्ध भाव बनके गति उच्च पाते ॥२२॥

※

श्याम गभीर-गिरमुज्ज्वलहेमरत्न—
सिंहासनस्थमिह भव्य-शिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चैश्—
चामीकराद्रि-शिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥२३॥

अन्वयार्थ

इह— इस लोक मे
श्यामं— श्याम वर्ण
गम्भीर— गम्भीर
गिरम्— दिव्य ध्वनि करने वाले
उज्ज्वल— उज्ज्वल
हेम— स्वर्ण से निर्मित
रत्न— रत्नो से जडित
सिंहासनस्थ— सिंहासन पर स्थित
त्वाम्— आपको
भव्य— भव्य प्राणी रूप
शिखण्डिन — मयूर
चामीकराद्रि शिरसि— सुवर्णमय सुमेरु पर्वत पर

उच्चै.—	उच्च स्वर से
नदन्तम्—	गरजते हुए
नव—	नवीन
अम्बुवाहम्—	मेघ के
इव—	समान
रभसेन—	अति उत्सुकता से
आलोकयन्ति—	देखते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! जब आप रत्नो से जडे हुए उज्ज्वल स्वर्णमयी सिंहासन पर विराजमान होते हैं और गम्भीर वाणी के द्वारा धर्म देशना करते है, तब भव्य प्राणी रूप मयूर श्याम वर्ण वाले आपको बहुत ही उत्सुक होकर इस प्रकार देखते है, मानो सुवर्णमय सुमेरु पर्वत के शिखर पर वर्षाकालीन श्याम मेघ घुमडता हुआ जोर से गरज रहा हो। यह 'सिंहासन' प्रातिहार्य का वर्णन है।

हिन्दी पद्य :

तू श्याम है, तव गिरा सुगंभीर, तेरा—
सिंहासन प्रचुर रत्न-सुवर्ण वाला।
देखे तुझे प्रणयि भव्य मयूर नीके,
मानो सुमेरु-शिर पै नव मेघ गाजै ॥२३॥

※

उद्गच्छता तव शित-द्युति-मण्डलेन,
लुप्त - च्छदच्छविरशोक - तरुर्बभूव।
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग !
नीरागता व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥२४॥

अन्वयार्थ

तव—	आपकी
सान्निध्यत —	सान्निध्यता से
अपि—	ही

अशोक तरुः—	अशोक वृक्ष
त्तव—	आपके
उद्गच्छता—	स्फुरायमान उज्ज्वल
शितद्युति मण्डलेन—	प्रभा-मण्डल के
लुप्तच्छदच्छवि.—	छविहीन पत्रो वाला
बभूव—	हो गया
वा—	अथवा
वीतराग—	हे वीतराग !
यदि—	जबकि (अशोकवृक्ष का राग आपके सान्निध्य से लुप्त हो गया—तब
क·—	ऐसा कौन
सचेतनः—	सचेतन प्राणी है ? जो
नीरागताम्—	वीतरागता को
न व्रजति—	नही प्राप्त होगा ?
अपि—	अवश्य होगा ।

भावार्थ—हे नाथ ! आपके दिव्य शरीर से ऊपर की ओर निकलने वाली किरणो के नील प्रभा मण्डल से अशोक वृक्ष के लाल पत्ते भी अपनी रागरूप लालिमा से रहित हो जाते हैं ।

हे वीतराग ! आपकी वाणी सुनना और आपका ध्यान करना तो महत्त्व की वस्तु है ही, किन्तु यहाँ तो आपके समीप रहने मात्र से कौन ऐसा सचेतन प्राणी है जो वीतराग अर्थात् राग-रहित नही हो जाता ? सभी राग-रहित अवश्य हो जाते हैं । यह भामण्डल प्रातिहार्य का वर्णन है ।

हिन्दी पद्य

भामण्डल। प्रबल जो तव नाथ, फैला,
भाया अशोक तरु पत्र छटा लुटाके।
तेरे समीप रह चेतन कौन है ओ,
हे वीतराग ! धर ले न विरक्तता को ॥२०॥

❋

भो भो प्रमादमवधूय भजध्वमेन—
मागत्य निर्वृतिपुरी प्रति सार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव! जगत्त्रयाय,
मन्ये नन्दन्नभिनभ. सुर-दुन्दुभिस्ते ॥२५॥

अन्वयार्थ ·

देव—	हे देव!
मन्ये—	मैं मानता हूँ कि
अभिनभ·—	आकाश मे सर्व ओर
नदन्—	गर्जना करती हुई
ते—	आपकी
सुर—	देव
दुन्दुभि —	दुन्दुभि
जगत्त्रयाय—	तीनो लोक के लिए
एतत्—	यह
निवेदयति—	सूचित करती है कि
भो भोः—	हे प्राणियो!
प्रमादम्—	प्रमाद को
अवधूय—	छोड करके
निर्वृति पुरीं प्रति—	मोक्ष पुरी को जाने वाले
एनम्—	इन
सार्थवाहम्—	सार्थवाह की
आगत्य—	शरण मे आकर
भजध्वम्—	सेवा करो।

भावार्थ—हे देव! आकाश मे सव ओर गर्जन करती हुई देव-दुन्दुभि तीन जगत को इस प्रकार सूचना देती है कि—

ये भगवान पार्श्वनाथ मोक्षपुरी को जाने वाले सार्थवाह है, बड़े व्यापारी हैं। अतएव हे मोक्षपुरी की यात्रा करने वाले मुमुक्षु यात्रियो! आलस्य त्याग कर शीघ्र आकर इनकी सेवा करो। यह दुन्दुभि प्रातिहार्य का वर्णन है।

हिन्दी पद्य :

जीवो प्रमाद तज दो, भज ईश को लो,
है मार्गदर्शक, यहाँ, बस पास आओ।
ये बात तीन जग को बतला रहा है,
आकाश-बीच सुर-दुन्दुभि-नाद तेरा ॥२५॥

※

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ!
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ताकलाप - कलितोल्लसितातपत्र—
व्याजात् त्रिधा धृततनुर् ध्रुवमभ्युपेत. ॥२६॥

अन्वयार्थ :

नाथ— हे नाथ!
भवता— आपके द्वारा
उद्योतितेषु— दिव्य ज्ञान के प्रकाश से
भुवनेषु— तीनो ही लोक को प्रकाशित कर देने पर
मुक्ताकलाप— मोतियो के समूह से
कलित— सुशोभित
उल्लसितातपत्र तीन श्वेत छत्रो के
व्याजात्— व्याज से
विहताधिकार — अपने स्थान से भ्रष्ट हुआ
अयम्— यह
तारान्वित — ताराओ से वेष्टित

विधु — चन्द्रमा
त्रिधा— अपने तीन
धृत तनुः— शरीर को धारण करके
ध्रुवम्— निश्चय से
अभ्युपेतः— आपकी सेवा मे उपस्थित हो गया है।

भावार्थ— हे नाथ! जब आपने अपने दिव्य ज्ञान के प्रकाश से तीन जगत को प्रकाशित कर दिया, तब चन्द्रमा का अपना प्रकाश करने वाला रूप अधिकार छिन गया।

अब चन्द्रमा क्या करता? वह तारा मण्डल को साथ लेकर मोतियो के समूह से युक्त एव सुशोभित तीन श्वेत छत्रो के रूप मे तीन शरीर बना कर आपकी सेवा मे ही उपस्थित हो गया है। यह 'छत्रत्रय' प्रातिहार्य का वर्णन है।

हिन्दी पद्य.

तेरे प्रकाशित किये जग मे हुआ है,
तारा-समेत अधिकार-विहीन चन्द्र।
मुक्ता-कलाप-परिशोभित छत्ररूप,
हो, तीन देह धरके तव पास आया ॥२६॥

※

स्वेन प्रपूरित-जगत्त्रय-पिण्डितेन
कान्ति-प्रताप-यशसामिव सचयेन।
माणिक्य - हेम - रजत-प्रविनिर्मितेन,
साल-त्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥२७॥

अन्वयार्थ :

भगवन्— हे भगवन्! आप
अभित — चारो ओर
माणिक्य— माणिक्य
हेम— सुवर्ण
रजत— और चांदी से

प्रविनिर्मितेन—	बने हुए
सालत्रयेण—	तीन कोटो से
विभासि—	सुशोभित हो रहे हैं मानो वे तीन कोट
कान्ति—	कान्ति
प्रताप—	प्रताप
यशसाम्—	और यश के
सचयेन—	समूह के समान
स्वेन—	अपने द्वारा
प्रपूरित—	भरे हुए
जगत्त्रय—	तीनो जगत का
पिण्डितेन—	पिण्ड इकट्ठा हो गया हो
इव—	इस प्रकार सुशोभित होते है।

भावार्थ—हे भगवन्! आप अपने चारो ओर के मणिक्य, सुवर्ण और रजत से बने हुए तीन कोटो से बहुत ही सुन्दर मालूम होते है।

ये तीन कोट क्या हैं! मानो आपके शरीर की कान्ति, आपका प्रताप और आपका यश ही तीनो जगत मे सर्वत्र फैलने के बाद आगे स्थान न मिलने के कारण आपके चारो ओर तीन कोट के रूप मे पिण्डीभूत हो गया है, अर्थात् इकट्ठा हो गया है।

हिन्दी पद्य

चाँदी सुवर्ण मणि माणिक के बनाये,
हैं तीन कोट भगवन्! चहुँ ओर तेरे।
कीर्त्ति प्रताप द्युति के समुदाय ने ही,
मानो विभो! त्रिजगती-तल छा दिया है ॥२७॥

※

दिव्य-स्रजो जिन! नमत्-त्रिदशाधिपाना—
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वाऽपरत्र,
त्वत्सगमे सुमनसो न रमन्त एव ॥२८॥

अन्वयार्थ

जिन—	हे जिनेन्द्र !
दिव्यस्रजः—	दिव्य पुष्पो की मालाएँ
नमत्त्रि दशाधिपानाम्—	आपके चरणो मे नमस्कार करते हुए देवेन्द्रो के
रत्नरचितानपि—	रत्न-जडित
मौलिबन्धान्—	मुकुटो के बन्धनो को
उत्सृज्य—	छोडकर
भवतः—	आपके
पादौ—	चरणों का
श्रयन्ति—	आश्रय लेती हैं ।
यदि वा—	ठीक ही है
त्वत्सङ्गमे—	क्योकि आपका सम्पर्क होने पर
सुमनस.—	पुष्प मालाएँ या उत्तम हृदय वाले मनुष्य
अपरत्र —	अन्यत्र
न एव रमन्ते—	नही रमते हैं अर्थात् उनका चित्त अन्यत्र नहीं लगता है ।

भावार्थ—हे नाथ ! जब स्वर्ग के इन्द्र आपको नमस्कार करते हैं, तब उनकी दिव्य पुष्प मालाएँ रत्नजटित मुकुटो का भी परित्याग कर झटपट आपके श्री चरणो का आश्रय ले लेती हैं ।

पुष्प मालाओ का यह कार्य बिलकुल उचित ही है, क्योकि श्री चरणो का आश्रय मिल जाने के पश्चात् सुमनो (अच्छे मन वाले ज्ञानी पुरुषो) को अन्यत्र कही पर सन्तोष ही नही मिलता ।

हिन्दी पद्य

देव प्रणाम करते तव दिव्यमाला,
रत्नो जडे मुकुट को, तज के उन्हो के ।
तेरा पदाश्रय करे, रमते नही हैं—
अन्यत्र या सुमन पाकर सग तेरा ।।२८।।

※

त्वं नाथ ! जन्मजलधे-र्विपराङ्मुखोऽपि
यत्तारयस्यसुमतो निज-पृष्ठलग्नान् ।
युक्त हि, पार्थिव-निपस्य सतस्तवैव
चित्र विभो ! यदसि कर्म-विपाक-शून्य. ॥२९॥

अन्वयार्थ :

नाथ—	हे नाथ !
त्वम्—	आप
जन्म—	ससार रूप
जलधे —	समुद्र से
विपराङ्मुखः अपि—	पराङ्मुख हैं, तदपि
यत्—	आप
निज—	अपने
पृष्ठलग्नान्	पृष्ठाश्रित—अनुयायी भव्य
असुमत.—	जीवो को
पार्थिव निपस्य सत.तवैव-	पके हुए घड़े के समान
तारयसि—	पार उतार देते है
युक्तम् हि—	यह उचित ही है, किन्तु
विभो—	हे प्रभो !
चित्रम्—	आश्चर्य है
यत्—	जो (कि आप)
कर्मविपाक—	कर्मों के विपाक से
शून्य. असि—	शून्य हैं ।

भावार्थ—हे नाथ ! ससार समुद्र से सर्वथा पराङ्मुख प्रतिकूल होते हुए भी आप अपने अनुयायी भक्तो को पार उतार देते हैं, यह युक्त ही है, क्योकि आप पार्थिव अर्थात् समस्त पृथ्वी के स्वामी हैं । अथवा पार्थिवनिप (मिट्टी के

घडे) का स्वभाव ही ऐसा है कि वह जल की ओर अधोमुख रहकर भी अपनी पीठ पर ठहरे हुओ को पार उतार देता है।

परन्तु इसमे एक महान् आश्चर्य है। वह यह कि पार्थिवनिप[1] (घडा) तो विपाक-सहित होता है और आप कर्म विपाक मे रहित हैं।

हिन्दी पद्य

हे नाथ! तू विमुख जन्म-समुद्र से हो,
पीछे पडे मनुज के गण को तिराता।
है योग्य बात तुझ पार्थिव को अहो पैं,
तू है प्रभो! सकल कर्म-विपाक-शून्य ॥२९॥

※

विश्वेश्वरोऽपि जन-पालक! दुर्गतस्त्व
किं वाक्षर-प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश!
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव
ज्ञान त्वयि स्फुरति विश्व-विकास-हेतु ॥३०॥

अन्वयार्थ

जनपालक—	हे जगदीश्वर!
त्वम्—	आप
विश्वेश्वर.—	तीन लोक के नाथ होकर
अपि—	भी
दुर्गतः—	दुर्गत है, दरिद्र है, अथवा आपको प्राप्त करना दुर्लभ है।
किम् वा—	और
अक्षर—	अक्षर
प्रकृति·—	स्वभाव होने पर

---

१ मूल श्लोक के पार्थिवनृप और पार्थिवनिप ये दोनो ही पाठ उपलब्ध होते है— —सम्पादक

अपि—	भी
त्वम्—	आप
अलिपि —	अलिखित है अर्थात् लेखन स्वभाव और कर्म लेप से रहित है ।
ईश—	हे स्वामिन् !
अज्ञानवति—	अज्ञानवत् - अज्ञप्राणियो के सरक्षक है
कथचित् त्वयि इव—	तथापि आप मे इस प्रकार
विश्वविकास हेतु—	तीनो लोको को प्रकाशित करने वाला
ज्ञानम्—	केवलज्ञान
सदैव—	हमेशा
स्फुरति—	प्रकाशमान रहता है ।

भावार्थ—इस श्लोक मे विरोधाभास अलकार द्वारा स्तुति की गई है । विरोधाभाम अलकार मे शब्द को सुनते समय तो विरोध मालूम होता है, किन्तु अर्थ को विचारने पर उसका परिहार हो जाता है । स्तोत्रकार कहते हैं—भगवन् ! आप विश्वेश्वर होकर भी दुर्गत है । यह पूरा विरोध है । भला जो सारे विश्व का ईश्वर है, वह दुर्गत अर्थात् दरिद्र कैसे हो सकता है ? इसका परिहार श्लेप रूप से यह है कि दु अर्थात् दुख से, बडी कठिनाई से गत अर्थात् जाने जाते हैं । इमीप्रकार अक्षर प्रकृति अर्थात् अ-क्षर स्वभाव वाले होकर के भी अलिपि अर्थात् लिखे नही जा सकते । यह विरोध है । जो क, ख, ग आदि अक्षर है वे तो लिखे जाते हैं । इस विरोध का परिहार यह है कि आप अक्षर अर्थात् अविनश्वर प्रकृति अर्थात् स्वभाव वाले होकर के भी अलिपि अर्थात् आकार-रहित-निराकार हैं । इसी प्रकार अज्ञानवति अपि अर्थात् अज्ञानयुक्त होने पर भी आप मे विश्वविकाशि ज्ञान कैसे स्फुरायमान हो सकता है, यह विरोध है । इसका परिहार यह है कि—अज्ञान् अवति त्वयि अर्थात् अज्ञानी प्राणियो की रक्षा करने वाले आप मे विश्वप्रकाशी ज्ञान सदा स्फुरायमान रहता है ।

हिन्दी पद्य

विश्वेश है तदपि दुर्गत नाथ! है तू,
है अक्षर प्रकृति भी अलिपि प्रभो! तू।
अज्ञान है कुछ तथापि फुरे सदा ही,
सुज्ञान नाथ! तुझ मे जग का विकासी ॥३०॥

※

प्राग्भार-संभृत-नभासि रजासि रोषा—
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायाऽपि तैस्तव न नाथ! हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव पर दुरात्मा ॥३१॥

अन्वयार्थ

नाथ—	हे नाथ!
शठेन—	दुष्ट
कमठेन—	कमठ के द्वारा
रोषात्—	रोष से अर्थात् पूर्वोपार्जित वैर से
तव—	आप पर
प्राग् भार सम्भृत नभासि—	पूर्ण रूप से आकाश को आच्छादित करने वाली
यानि—	जो
रजासि—	धूलि
उत्थापितानि—	उडाई
तैः तु—	उस से तो
तव—	आपकी
छाया—	छाया
अपि—	भी
न हता—	मलिन नही हुई

परम्—	वल्कि
अयमेव—	वही
दुरात्मा—	दुष्ट कमठ
हताश·—	हताश होकर
अमीभि —	उस धूलि से
ग्रस्त —	जकडा गया । अर्थात् मलिन हो गया

भावार्थ—हे नाथ ! दुष्ट कमठ ने क्रुद्ध होकर आप पर पहले वडी भीषण धूलि की वर्षा की थी, ऐसी वर्षा कि जिसके समूह से समग्र आकाश भर गया था । किन्तु उसमे आपका कुछ भी न बिगडा । और तो क्या, आपकी छाया तक भी मलिन न हुई, प्रत्युत उस धूलि से वह हताश दुरात्मा स्वय ही ग्रस्त हो गया, मलिन हो गया ।

हिन्दी पद्य

आँधी चलाय रज-शैल उडा-उडा के
जो क्रोध से कमठ ने नभ छा दिया है ।
तेरी न छाँह तक नाथ ! छुई इन्होने,
उल्टा उसी कुटिल को घवरा दिया है ।।३१।।

※

यद् गर्जदूर्जित - घनौघमदभ्र - भीम—
भ्रश्यत्तडिन्मुसल - मासलघोर - धारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तर-वारि दध्रे,
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारि-कृत्यम् ।।३२।।

अन्वयार्थ

अथ—	तत्पश्चात्
जिन—	हे जिनेश्वर !
दैत्येन—	उस कमठ ने
गर्जदूर्जितघनौघम्—	खूब गर्ज रहे हैं मेघ समूह जिसमे ऐसी

भ्रश्यत्तडित्—	तडतडाती हुई विजली और
मुसलमासल—	मूसल के समान मोटी
घोरधारम्—	भारी जल धारा से युक्त
अदभ्रभीमम्—	ऐसा महा भयकर
यत्—	जो
दुस्तर-वारि—	अथाह जल
मुक्तम्—	वर्षाया
तस्य—	उस कमठ ने अपने लिए
एव—	ही
दुस्तरवारि	तीक्ष्ण तलवार का कार्य कर लिया
कृत्यम् दध्रे—	अर्थात् उससे वह कमठ स्वय ही घायल हो गया।

भावार्थ—हे जिनेश्वर देव! कमठ दैत्य ने आप के ऊपर बडी भयकर जल वर्षा की, ऐसी वर्षा कि जिसमे बडे बडे विशाल मेघ समूह गर्जन कर रहे थे, विजलियाँ गिर रही थी और मूसल के समान बडी मोटी-मोटी जल धाराएँ वरस रही थी, जो अत्यन्त डरावनी मालूम होती थी, और जिनका अथाह जल तैर कर भी पार करना कठिन था।

किन्तु उस वर्षा से आपकी कुछ भी हानि नही हुई, प्रत्युत वह उस कमठ के लिए दुष्ट तलवार का काम कर गई, अर्थात् उसका ही विघात करने वाली हुई।

हिन्दी पद्य:

गर्जे महा कडक के विजली पडे त्यो—
पानी गिरे भयद मूसलधार होके।
की दुष्ट ने कठिन दुस्तर-वारि-वर्षा,
उसके लिए वह हुई तरवारि-वर्षा ॥३२॥

❋

ध्वस्तोर्ध्व-केश - विकृताकृति-मर्त्यमुण्ड—
प्रालम्वभृद् - भयद-वक्त्र - विनिर्यदग्नि· ।
प्रेतव्रज प्रति भवन्तमपीरितो य.
सोऽस्याभवत्प्रतिभव भव-दु ख-हेतु ॥३३॥

अन्वयार्थ

य —	जो
ध्वस्तोर्ध्व केश —	बिखरे हुए केशो की
विकृत—	विकराल
आकृति—	आकृति वाले
मर्त्य-मुण्ड —	नर मुण्डो की
प्रालम्बभृद्—	लम्बी-लम्बी मालाओ को धारण करने वाले
भयद-वक्त्र	और जिनके भयानक मुख से
विनिर्यदग्नि·—	आग निकल रही है ।
य.—	ऐसा जो
प्रेतव्रज.—	पिशाचो का समूह
अपि—	भी
भवन्तम् प्रति—	आपके प्रति
ईरित —	प्रेरित किया अर्थात् भेजा
स —	वह
अस्य·—	उस दुष्ट असुर को
प्रतिभवम्—	प्रत्येकभव मे
भव-दु ख-हेतु·—	सासारिक दु ख का कारण
अभवत्—	हुआ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! दुष्ट कमठासुर ने आपको पथ भ्रष्ट करने के लिए अत्यन्त निर्दय पिशाचो के दल भी भेजे । कैसे ये वे पिशाच ? जिन के गले मे

बिखरे केशो और भद्दी आकृति वाले नर मुण्डो की मालाएँ पडी हुई थी और जो अपने भयानक मुख मे आग उगल रहे थे ।

किन्तु हे प्रभो ! वे भयकर पिशाच आप पर कुछ भी प्रभाव नही डाल सके, प्रत्युत वे उसी कमठ के लिए प्रत्येक भव मे भयकर दु खो के कारण बने ।

हिन्दी पद्य

अगार को उगलता, नर-मुण्ड धारे
सूखे कुकेश, विकराल शरीर वाला ।
जो प्रेत-वृन्द तव नाथ ! समीप भेजा,
उसको हुआ वह भवो-भव दु खदायी ॥३३॥

※

धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य—
माराधयन्ति विधिवद् विधुतान्यकृत्या ।
भक्त्योल्लसत्पुलक - पक्ष्मल - देह-देशा
पादद्वय तव विभो ! भुवि जन्मभाज ॥३४॥

अन्वयार्थ

भुवनाधिप विभो— हे त्रिलोकी नाथ प्रभो !
भुवि— ससार मे
भक्त्या— भक्ति से
उल्लसत् पुलकपक्ष्मल—उल्लसित एव पुलकित हो रहे है
देहदेशा — शरीर के अवयव जिनके, ऐसे
ये— जो
जन्मभाज — प्राणी
विधुतान्य कृत्याः— सासारिक अन्य सम्पूर्ण कार्यों को छोड कर
विधिवत्— विधि पूर्वक

तव—	आपके
पादद्वयम्—	दोनो चरणो की
त्रिसन्ध्यम्—	त्रिकाल
आराधयन्ति—	आराधना करते हैं
त—	वे
एव—	ही
धन्याः—	धन्य है

भावार्थ—हे त्रिभुवन के स्वामी ! ससार के वे ही प्राणी धन्य है, जिनके शरीर का रोम-रोम आपकी भक्ति के कारण उल्लसित एव पुलकित हो जाता है और दूसरे सब काम छोडकर आपके चरण कमलो की विधि पूर्वक त्रिकाल उपासना करते है ?

हिन्दी पद्य :

रोमाच गदगद् प्रफुल्लित देह होके,
आराधना तव पदाम्बुज की महेश !
जो भक्तिपूर्वक करे विधि से त्रिकाल,
वे धन्य हैं जगत मे जन देहधारी ।।३४।।

※

अस्मिन्नपारभव-वारिनिधौ मुनीश,
मन्ये न मे श्रवणगोचरता गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्र-पवित्र-मन्त्रे
किं वा विपद्-विषधरी सविध समेति ।।३५।।

अन्वयार्थ

मुनीश !—	हे मुनीन्द्र !
मन्ये—	मैं मानता हूँ
अस्मिन्—	इस
अपार—	अपार
भव—	ससार

वारिनिधौ—	सागर मे (परिभ्रमण करते हुए)
त्वम्—	आप
मे—	मेरे
श्रवण गोचरतां—	कर्ण गोचर
न गत असि—	नही हुए (क्योकि)
तव—	आपका
पवित्र—	पवित्र
गोत्र—	नाम रूपी
मन्त्रे—	मन्त्र
आकर्णिते तु—	सुनने पर तो
विपद्—	आपत्तिरूप
विषधरी—	नागिनी
किं वा—	क्या
सविध—	समीप
समेति—	आ सकती है ? कभी नही ।

भावार्थ—हे मुनीन्द्र ! इस अपार ससार सागर मे परिभ्रमण करते हुए अनन्त काल हो गया, परन्तु मालूम होता है, आपका पवित्र नाम कभी भी श्रुति गोचर नही हुआ ।

क्योकि यदि कभी आपके नाम का पवित्र मन्त्र सुनने मे आया होता, तो फिर क्या यह विपत्ति रूपी काली नागिन मेरे पास आती ? कभी नही ।

हिन्दी पद्य :

ससार-वारि-निधि मे पड के कदाचित्,
मैंने सुना न जगदीश्वर नाम तेरा ।
जो नाम-मन्त्र सुनता अति ही पवित्र,
आती विपद् विपधरी किस भाँति पास ॥३५॥

※

जन्मान्तरेऽपि तव पाद-युग न देव,
मन्ये मया महितमीहितदान-दक्षम् ।
तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवाना
जातो निकेतनमह मथिताशयानाम् ॥३६॥

अन्वयार्थ

देव—	हे देव !
मन्ये—	मैं मानता हूँ
जन्मान्तरे अपि—	जन्मान्तर मे भी
मया—	मैंने
ईहित—	मनोवाछित
दान—	फल देने में
दक्षम्—	समर्थ
तव—	आपके
पाद युगम्—	चरण कमलो की
महितम्—	पूजा
न—	नही की
तेन—	इस कारण से
इह—	इस
जन्मनि—	जन्म में
मुनीश—	हे मुनीश !
अहम्—	मैं
मथिताशयानाम्—	हृदयभेदी
पराभवानाम्—	तिरस्कारो का
निकेतनम्—	घर
जात —	वन गया हूं ।

भावार्थ—हे देव ! मैं निश्चित रूप से यह समझ गया हूँ कि मैंने जन्म जन्मान्तर मे भी कभी अभीष्ट फल प्रदान करने मे पूर्ण तया समर्थ आपके चरण कमलो की उपासना नही की ।

हे मुनीश ! यही कारण है कि मैं इस जन्म मे हृदय को दलन करने वाले असह्य तिरस्कारो का केन्द्र वन गया हूँ । आपके चरणो का पुजारी तो कभी भी तिरस्कृत नही होता ।

हिन्दी पद्य :

हे पूज्य, वाञ्छित फल-प्रद पाँव तेरे,
पूजे न पूर्वभव मे भगवान् मैंने ।
है वात सत्य, इससे इस जन्ममे मैं,
हूँ जो पराभव मनोरथ-भग-पात्र ॥३६॥

※

नून न मोह-तिमिरावृत-लोचनेन,
पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि ।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रवन्ध-गतय कथमन्यथैते ॥३७॥

अन्वयार्थ

विभो— हे प्रभो !
मोह— मोह रूप
तिमिर— अन्धकार से
आवृत— आच्छादित है
लोचनेन— नेत्र जिसके, ऐसे मैंने
पूर्वम्— पहले कभी भी
नूनम्— निश्चय से
सकृदपि— एक वार भी
न प्रविलोकित. असि—आपके दर्शन नही किये
अन्यथा— यदि किया होता तो

प्रोद्यत्प्रबन्धगतय'—	जिनकी प्रबन्ध गति अतिशय बलवती है ऐसे
एते—	ये
मर्माविधः—	हृदयभेदी
अनर्था —	अनर्थ
माम्—	मुझको
कथम्—	क्यो
विधुरयन्ति—	सताते ?

भावार्थ—हे प्रभो ! मेरी आँखो पर मिथ्यात्व-मोह का गहरा अन्धेरा छाया रहा, फलत मैंने पहले कभी एक बार भी आपके दर्शन नही किये।

यदि कभी आपके दर्शन किये होते तो अत्यन्त तीव्र गति मे विस्तार पाने वाले ये मर्म-भेदी अनर्थ मुझे क्यो पीडित करते ? आपका भक्त और अनर्थ ? इन दोनो का मेल ही नही बैठता।

हिन्दी पद्य

मोहान्धकार-वश लोचन मूँद मैंने,
तेरे न दर्शन किये पहले अवश्य।
जो बात है न यह तो फिर क्यो सताते,
ये मर्म-वेधक अखण्ड अनर्थ आके ॥३७॥

※

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नून न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव ! दु ख-पात्र
यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भाव-शून्या ॥३८॥

अन्वयार्थ

जनबान्धव—	हे जगतबन्धु ! यदि
आकर्णितोऽपि—	मैंने आपका नाम भी सुना हो
महितोऽपि—	आपका पूजन भी किया हो

निरीक्षितोऽपि—	आपके दर्शन भी किये हो किन्तु
नूनम्—	निश्चय है कि
मया—	मैंने
भक्त्या—	भक्ति से
चेतसि—	हृदय मे
न विधृतः असि—	आपको धारण नही किया
तेन—	इसी कारण से मैं
दु.खपात्रम्—	दु ख का पात्र
जातः अस्मि—	हो रहा हुँ
यस्मात्—	क्योकि
भाव-शून्या —	भाव-रहित
क्रियाः—	क्रियाएँ
न प्रति फलन्ति—	सफल नही होती हैं ।

भावार्थ—हे जनता के एक मात्र प्रिय वन्धु भगवन् ! मैंने यथावसर आपका पवित्र नाम भी सुना, उपासना भी की और दर्शन भी किये—वाह्य दृष्टि से सव कुछ किया, किन्तु भक्ति भाव पूर्वक कभी भी आपको अपने हृदय मे धारण नही किया ।

यही कारण है कि आज मैं अनेकानेक भयकर दु खो का पात्र वन रहा हूँ । प्रभु के दर्शन होने के वाद भी दु ख क्यो ? इसलिए कि भावना-रहित क्रियाएँ सफल नही होती ।

हिन्दी पद्य :

मैंने सुदर्शन किये, गुन भी सुने, की—
पूजा, तथापि हिय मे न तुझे विठाया ।
हूँ दुःख-पात्र, जन-वान्धव ! मैं इसी से,
होती नही सफल भाव विना क्रियाएँ ।।३८।।

※

त्वं नाथ ! दु खि-जन-वत्सल ! हे शरण्य,
कारुण्य-पुण्यवसते ! वशिना वरेण्य !
भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय,
दु खांकुरोद्दलन-तत्परता विधेहि ॥३९॥

अन्वयार्थ :

नाथ—	हे नाथ !
हे शरण्य—	हे शरणागत
दुःखिजन—	दु खी जनो पर
वत्सल—	स्नेह करने वाले
कारुण्य पुण्यवसते—	हे परम करुणा निधान !
वशिनां वरेण्य—	हे योगियो के ईश्वर !
महेश त्वं—	हे महेश्वर ! आप
भक्त्या—	भक्ति से
नते—	विनम्र हुए
मयि—	मुझ पर
दया विधाय—	दया करके
दुःख—	मेरे दु ख रूप
अंकुरोद्दलन—	अकुर का नाश करने में
तत्परताम्—	तत्परता
विधेहि—	कीजिए ।

भावार्थ—हे नाथ ! आप दु खी जीवो के प्रति वत्सल हैं, शरणागतो के प्रतिपालक हैं, करुणा के निधान है और जितेन्द्रिय पुरुषो मे श्रेष्ठ हैं ।

हे महेश ! भक्ति-भाव के कारण विनम्र हुए मुझ सेवक पर अपनी दया-दृष्टि कीजिए और इस दु ख की जड को उखाडने मे शीघ्र ही तत्परता दिखाइये ।

हिन्दी पद्य

हे दीनबन्धु ! करुणाकर ! हे शरण्य,
स्वामिन् ! जितेन्द्रिय ! वरेण्य ! सुपुण्यधाम !
हूँ भक्ति से प्रणत मैं, करके दया तू,
हे नाथ ! नाश कर दे सब दुःख मेरे ।।३९।।

※

निःसख्यसार-शरणं शरणं शरण्य—
मासाद्य सादित-रिपु-प्रथितावदातम् ।
त्वत्पाद-पंकजमपि प्रणिधान-वन्ध्यो,
वन्ध्योऽस्मि चेद् भुवन-पावन ! हा हतोऽस्मि ।।४०।।

अन्वयार्थ

भुवनपावन—	हे तीन लोक को पवित्र करने वाले
निःसख्य सार शरणम्—	मित्र बन्धु के अभाव मे प्रधानता से आश्रय देने वाले
शरणम्—	रक्षा करने वाले
शरण्यम्—	शरणागत का प्रतिपालन करने वाले
सादितरिपु—	अष्ट कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करके
प्रथितावदातम्—	अपनी कीर्ति विख्यात करने वाले
त्वत्पादपङ्कजम्—	आपके चरण कमलो को
आसाद्य अपि—	पाकर भी
प्रणिधानवन्ध्यः—	उनका ध्यान नही किया
चेत्—	यदि हे भगवन् !
वन्ध्यः अस्मि—	मैं अभागा फलहीन हूँ
हा हतः अस्मि—	हाय ! मैं मारा गया हूँ ।

भावार्थ—हे भुवन-पावन ! आपके चरण-कमल अतुल बल के स्थान हैं, दुःखित जनो की रक्षा करने वाले हैं, शरणागतो के प्रतिपालक हैं, और कर्म शत्रुओं को नष्ट करने के कारण विश्व-विख्यात यश वाले हैं ।

किन्तु दुर्भाग्य है कि आपके इस प्रकार मङ्गलमय चरणो का अवलम्बन पाकर भी मैं उनके ध्यान से शून्य रहा, अतएव अभागा फलहीन रहा। भगवन्! खेद है कि मैं आपके चरण-कमलो को पाकर कर्मों के द्वारा मारा जा रहा हूँ।

हिन्दी पद्य :

माहात्म्यवान, शरणागत-शान्ति - दायी,
शत्रु-प्रणाशकर, हैं तव पाद-पद्म।
पाके उन्हे सफल जो न हुआ प्रभो, तो
हे लोक-पावन! मुनीश्वर! हा मरा मैं ॥४०॥

※

देवेन्द्र-वन्द्य! विदिताखिल-वस्तु-सार,
संसार-तारक विभो भुवनाधिनाथ!
त्रायस्व देव करुणाह्रद! मा पुनीहि
सीदन्तमद्य भयद-व्यसनाम्बुराशे ॥४१॥

अन्वयार्थ :

देवेन्द्रवन्द्य— हे प्रभो! आप देवेन्द्र द्वारा वन्दनीय हैं
विदिताखिल वस्तुसार—समस्तपदार्थों के तत्व को जानने वाले हैं
संसार तारक— ससार सागर से पार उतारने वाले हैं
विभो— हे प्रभो! ज्ञानापेक्षा आप सर्वत्र व्यापक हैं।
भुवनाधिनाथ— हे त्रिलोकी नाथ!
करुणाह्रद— हे दया के सरोवर!
देव— हे देव
अद्य— आज
माम्— मुझे
सीदन्तम्— दुखिया को

त्रायस्व—	रक्षा करो
भयदव्यसन—	भयकर दु खरूपी
अम्बुराशे —	सागर से मुझ को
पुनीहि—	बचाओ, और पवित्र करो ।

भावार्थ—हे प्रभो ! आप स्वर्गाधिपति इन्द्रो द्वारा वन्दनीय हैं, सब पदार्थों के रहस्य को जानने वाले हैं, ससार सागर से पार उतारने वाले हैं, तीन लोक के नाथ हैं । हे करुणा के सरोवर देव ! भयकर सकटो के सागर मे डूबने से मेरी रक्षा कीजिए, मुझे पवित्र बनाइए ।

हिन्दी पद्य :

सर्वज्ञ देव ! सुर-नायक ! पूजनीय
ससार-तारक ! विभो ! भुवनाधिनाथ !
मैं हूँ दयाधन ! दु खी मुझको बचाओ,
ससार से, कर पवित्र मुझे तरा दो ॥४१॥

※

यद्यस्ति नाथ ! भवदङ्घ्रिसरोरुहाणा
भक्ते फल किमपि सन्तत-सचिताया ।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य ! भूया
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥४२॥

अन्वयार्थ :

नाथ—	हे नाथ !
त्वदेक—	केवल एक आपकी ही है
शरणस्य—	शरण जिसको ऐसे
मे—	मुझे
सन्तत सञ्चिताया—	चिरकाल से सचित की हुई
भवद्—	आपके
अंघ्रि सरोरूहाणाम्—	चरण कमलो की

भक्तेः—	भक्ति का
यदि—	यदि मुझे
किमपि—	कुछ भी
फल—	फल
अस्ति तत्—	है तो
शरण्य—	हे आश्रय दायक ! (बस, यही हो कि)
त्वमेव—	आप ही
अत्र—	इस
भुवने—	लोक मे
भवान्तरेऽपि—	और परलोक मे भी
स्वामी—	मेरे स्वामी
भूयाः—	होवे ।

भावार्थ—हे नाथ ! मैं एक अतीव निम्न श्रेणी का भक्त हूँ, मेरी भक्ति ही क्या है ? फिर भी आपके चरण-कमलो की चिरकाल से सचित की हुई भक्ति का यदि कुछ भी फल हो, तो हे शरणागत-वत्सल ! जन्म-जन्मान्तर मे आप मेरे स्वामी बनें । मुझे केवल आपकी शरण ही अपेक्षित है, और कुछ भी नही ।

हिन्दी पद्य .

मैंने विभो ! सतत की तव पाद-भक्ति
एकत्र होय उसका फल जो जरा भी ।
है प्रार्थना बस यही, 'इस लोक मे क्या,
क्या अन्य लोक-विच हो मम नाथ तू ही ।।४२।।

※

इत्थ समाहित-धियो विधिवज्जिनेन्द्र !
सान्द्रोलसत्पुलक - कन्चुकिताङ्गभागाः ।
त्वद्बिम्बनिर्मल - मुखाम्बुज - बद्धलक्ष्या
ये सस्तव तव विभो ! रचयन्ति भव्या ।।४३।।

अन्वयार्थ

जिनेन्द्र—	हे जिनेन्द्र !
ये —	जो
समाहित—	सावधान
धिय.—	बुद्धि वाले
भव्या —	भव्य प्राणी
त्वद्—	आपके
विम्ब निर्मल—	निर्मल
मुखाम्वुज—	मुख कमल की ओर
वद्धलक्ष्या—	अपलक लक्ष करके
सान्द्र—	सघन रूप से
उल्लसत्—	उठे हुए
पुलक—	रोमाचो से
कञ्चुकइत—	व्याप्त
अङ्गभागा.—	अगो वाले होकर
विभो—	हे प्रभो !
तव—	आपकी
इत्थं—	इस प्रकार
विधिवत्—	विधिपूर्वक
सस्तवम्—	स्तुति
रचयन्ति—	रचते है (अर्थात वना कर पढते हैं।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र देव ! अटल श्रद्धा के द्वारा स्थिर बुद्धि वाले, प्रेमाधिक्य के कारण अतीत सघन-रूप से उल्लसित हुए रोमाचो से व्याप्त अग वाले तथा निरन्तर आपके मुख कमल की ओर अपलक लक्ष्य रखने वाले जो भव्य प्राणी आपकी विधिपूर्वक स्तुति करते हैं—आपका गुणानुवाद करते है—

हिन्दी पद्य :

आनन्द मे पुलक, गद्-गद कण्ठ होके
तेरे मुखाब्ज पर आँख लगा अनोखी।
जो चित्त को स्थिर किये विधि से महेश
सप्रेम यो स्तव रचे तव भव्य जीव ॥४३॥

※

जन - नयन - कुमुद - चन्द्र
प्रभास्वराः स्वर्ग-सम्पदो भुक्त्वा।
ते विगलित-मल-निचया
अचिरान्मोक्ष प्रपद्यन्ते ॥४४॥

अन्वयार्थ

ते—	वे (पूर्वोक्त)
जन—	प्राणियो के
नयन—	नेत्र रूपी
कुमुद—	कुमुदो को
चन्द्र—	चन्द्रमा की तरह प्रकाशित करने वाले
प्रभास्वरा.—	देदीप्यमान
स्वर्ग—	स्वर्ग लोक की
सम्पदो—	अनेक प्रकार की सम्पत्तियो को
भुक्त्वा—	भोगकर
विगलित—	दूर किया हैं अष्ट कर्मरूप
मल—	मल के
निचया—	समूह को आत्मा से जिन्होने, ऐसे होकर
अचिरात्—	शीघ्र ही
मोक्ष—	मुक्ति को
प्रपद्यन्ते—	प्राप्त करते हैं

भावार्थ—हे भक्त जनता के नेत्र रूपी कुमुदो को विकसित करने वाले विमल चन्द्र ! वे (पूर्व कथित भव्य जन) अत्यन्त रमणीय स्वर्ग सम्पदाओ को भोग कर, अन्त मे कर्म मल से रहित होकर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

हिन्दी पद्य :

जन-नेत्र कुमुद-चन्द्र ! प्रभो ! सभी स्वर्ग-सम्पदा नीकी।
भोगे वे फिर जल्दी निर्मल हो मोक्ष को पावे ॥४४॥

□ ● □

चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तोत्र

किं कर्पूर-मय सुधारसमयं किं चन्द्ररोचिर्मय,
किं लावण्यमय महामणिमय कारुण्यकेलीमयम् ।
विश्वानन्दमय महोदयमय शोभामय चिन्मयं,
शुक्लध्यानमय वपुर्जिनपतेर्भूयाद् भवालम्वनम् ॥१॥

अन्वयार्थ :

जिनपतेः—	हे जिन-नाथ !
वपु —	आपका यह शरीर
किम् कर्पूरमयम् ?—	क्या कर्पूर-मय है ?
(किम्)सुधारसमयम् ?–	क्या अमृतरस युक्त है ?
किम्	क्या
चन्द्र-रोचिर्मयम् ?—	चन्द्र किरण-मय है ?
किम् लावण्यमयम् ?—	क्या सौन्दर्य-युक्त है ?
महामणियम्—	क्या महामणिमय है ?
कारुण्य-केलिमयम्—	क्या करुणा-केलीमय है,
विश्वानन्द मयम्—	क्या विश्व के समस्त आनन्दमय है,
महोदय मयम्—	कैसा महान् अभ्युदय वाला है,
शोभामयम् ?—	कैसा शोभामय है,
चिन्मयम् ?—	कैसा चैतन्यमय है,
शुक्ल-ध्यानमयम्—	कैसा शुक्लध्यानमय है,
भवालम्वनम्—	यह मेरे लिए ससार मे आलम्बनरूप
भूयात्—	होवे ।

भावार्थ—श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का कर्पूर के समान श्वेत रक्त और सुगन्ध वाला, अमृत के समान सुख-दायक, चन्द्र किरण के समान शीतल, अत्यन्त सौन्दर्य-युक्त, महामूल्यवान, मणि के सदृश आभा वाला, अतीव करुणा शाली ससार को आनन्द देने वाला, सर्वशोभा-सम्पन्न शुद्ध चैतन्यरूप शुक्ल-ध्यान स्वरूप यह शरीर इस ससार मे मेरे लिए आश्रय देने वाला हो।

हिन्दी पद्य

क्या कर्पूरमयी सुधारसमयी, या चन्द्र किरणोमयी ?
क्या लावण्यमयी महामणिमयी, कारुण्यकेलीमयी ?
विश्वानन्दमयी महोदयमयी, शोभामयी चिन्मयी ?
शुक्लध्यानमयी प्रभो तव तनू होवे भवालम्बनी ।।१।।

※

पाताल कलयन् धरा धवलयन्नाकाशमापूरयन्,
दिक्चक्र क्रमयन् सुरासुरनरश्रेणि च विस्मापयन् ।
ब्रह्माण्ड सुखयन् जलानिजलधे फेनच्छलाल्लोलयन्,
श्री चिन्तामणि-पार्श्वसभवयशो-हसश्चिर राजते ।।२।।

अन्वयार्थ

पातालम्—	पाताल को
कलयन्—	पूरित करता हुआ,
धराम्—	भूतल को
धवलयन्—	धवल करता हुआ
आकाशम्—	आकाश को
आपूरयन्—	व्याप्त करता हुआ,
दिक्चक्रम्—	दिङ्-मण्डल को
क्रमयन्—	उल्लघन करता हुआ
सुरासुरनरश्रेणीम्—	देव, दानव और मानव की श्रेणी को
विस्मापयन्—	आश्चर्य-चकित करता हुआ
ब्रह्माण्डम्—	ब्रह्माण्ड को

सुखयन्— सुखी करता हुआ,
जलधे— सागर के
जलानि— जलो को
फेन चछलात्— फेन के छल से
लोलयन् — कपाता हुआ
श्री चिन्तामणि- श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ से उत्पन्न
पार्श्व-सभव-यशो हस —यश रूपी हस
चिरम्— चिरकाल तक
राजते— शोभायमान है ।

भावार्थ—श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का यश रूपी हस अपने शब्दो से पाताल को पूरित करता हुआ, अपने धवल रूप से भूमण्डल को धवल करता हुआ, अपने विस्तार से आकाश को व्याप्त करता हुआ, अपनी गति के वेग से दशो दिशाओ को उल्लघन करता हुआ, आश्चर्यजनक कार्यों से देवो, दानवो और मानवो को विस्मित करता हुआ, तीनो लोको को सुख देता हुआ, फैन के वहाने से समुद्र के जल को अपने प्रभाव से कम्पित करता हुआ चिरकाल तक शोभायमान रहेगा ।

हिन्दी पद्य :

पाताल भूतल नभस्तल व्याप्त करता,
दिक् चक्र औ नर-सुरासुर को छकाता ।
ब्रह्माण्ड को सुखित, वारिधि श्वेत करता,
श्री पार्श्व-सम्भव यशो वर हस भाता ।।२।।

※

पुण्याना विपणिस्तमोदिनमणि कामेभकुम्भे सृणि
मोक्षे निस्सरणि सुरद्रुकरिणी ज्योति प्रकाशारणि ।
दाने देवमणिर्नतोत्तमजनश्रेणि कृपा-सारिणि,
विश्वानन्दसुधाघृणिभर्वभिदे श्रीपार्श्वचिन्तामणि ।।३।।

अन्वयार्थ :

पुण्याना विपणि'—	पुण्यो का प्रधान स्थान
तमो-दिन-मणिः—	अज्ञानरूप अन्धकार के लिए सूर्य
कामेभ-कुम्भे शृणि —	कामरूपी मत्त गज के लिए अकुश
मोक्षे निःसरणिः—	मोक्ष मे पहुँचने के लिए नि श्रेणी
सुरेन्द्र-करणि'—	देवेन्द्र पद के देने वाले
ज्योति• प्रकाशारणि'—	ज्योति प्रकाश के लिए अरणि
दाने देव-मणि —	दान के लिए चिन्तामणि
नतोत्तम जनश्रेणिः—	नम्रीभूत उत्तम जनो की श्रेणी
कृपा-सारणिः—	दयारूपी धारा की सारणी (नहर)
विश्वानन्द-सुधा-घृणि —	ससार को आनन्द देने वाले अमृत के प्रवाह रूप
श्री पार्श्व चिन्तामणि.—	श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ
भव-भिदे—	मेरे जन्म-मरण रूप ससार के भेदक होवें।

भावार्थ—हे भगवन् ! जैसे सर्व प्रकार की वस्तुओ की प्राप्ति का स्थान बाजार होता है, उसी प्रकार पुण्य प्राप्ति के लिए आप ही प्रधान स्थान है, जैसे सूर्य अन्धकार का नाशक है, उसी प्रकार आप समस्त जीवो के अज्ञान रूपी अन्धकार के विनाशक है, जैसे मदोन्मत्त हाथी को अकुश वश मे रखता है, उसी प्रकार आप काम रूपी मत्त हाथी को वश मैं रखने के लिए अकुश के समान हैं, मोक्षरूपी महल मे चढने के लिए आप नसैनी के सदृश हैं, तेज के परम निधान हैं, चिन्तामणिरत्न के समान सर्व जगत की कामनाओ को पूर्ण करने वाले हैं, तीनो लोको के अधीशोंसे वन्दित हैं, करुणा के एक मात्र स्थान हैं, ससार को आनन्दित करने के लिए अमृत किरण के तुल्य हैं। ऐसे श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवन् हम सब के जन्म-मरणरूप ससार का विनाश करे।

हिन्दी पद्य :

पुण्य के भण्डार है, अज्ञान-तमहर सूर्य है,
काम-गज को वशी करने परम अकुश धूर्य है।
मोक्ष की नि श्रेणिका, सुर-वृक्षकारी ज्योति है,
कर्मवन के दहन करने दाव-अग्नि पुनीत है ॥
दान मे चिन्तामणि, कारुण्य की है सारिणी,
विश्व को आनन्द-दाता श्री पार्श्व हैं चिन्तामणि।
चिन्तामणि श्री पार्श्व का चिन्तन करू मैं रात-दिन,
फिर क्यो न मेरे पाप नाशे, बढे सुख क्यो ना प्रतिक्षण ॥३॥

※

श्री चिन्तामणि पार्श्व विश्वजनता-सजीवनस्त्व मया,
दृष्टस्तात ! तत श्रिय समभवन्नाशक्रमाचक्रिणम्।
मुक्ति क्रीडति हस्तयोर्बहुविध सिद्ध मनोवाञ्छित,
दुर्दैव-दुरित च दुर्दिनभय कष्ट प्रणष्ट मम ॥४॥

अन्वयार्थ

तात·— हे लोक-रक्षक !
श्री चिन्तामणि-पार्श्व !—श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवन् !
त्वम्— आप
मया— मेरे द्वारा
विश्व-जनता-सजीवनः—ससार के प्राणियो के सजीवक
दृष्ट — देखे गये हैं
तत — इसलिए
आशक्रम्— इन्द्र से लेकर
आचक्रिणम्— चक्रवर्ती तक की
श्रिय — सम्पदाएँ
न समभवन्— आपके समान नही है
मुक्ति — मुक्ति

हस्तयो —	दोनो हाथो पर
क्रीडति—	क्रीड़ा कर रही है,
वहु विधम्—	मेरे अनेक प्रकार के सभी
मनोवाछितम्—	मनोरथ
सिद्धम्—	सिद्ध हुए
दुर्दैवम्—	दुर्दैव
दुरितम्—	दुष्पाप
दुर्दिनम्—	दुर्दिन
भयम्—	भय
च—	और
कष्टम्—	कष्ट
प्रणष्ट मम—	मेरे सव नष्ट हो गये हैं ।

भावार्थ—हे चिन्तामणि पार्श्वनाथ, आप मुझे समस्त प्राणियो के सजीवन दिखाई दे रहे हैं, इसलिए चक्रवर्ती से लेकर इन्द्र तक की समस्त सम्पदाएँ आपकी समता नही कर सकती हैं । आपके दर्शन मात्र से मुक्ति हाथो पर-क्रीडा करने लगती है, मेरे सभी मनोरथ सफल हो गये हैं और मेरा सभी दुर्दैव, पाप, दुदिन, भय और कष्ट नष्ट हो गये हैं ।

हिन्दी पद्य .

चिन्तामणि चित्त-चिन्त्य-दाता, पर न करता आप सम,
पर आप करते भक्त का, उद्धार करके आप-सम ।
सजीवनामृत आप हैं, भव-चक्र-नाशक आप ही,
दुर्दैव दुर्दिन कष्ट विनशे फले वाछित आप ही ॥४॥

※

यस्य प्रौढतम-प्रतापतपन. प्रोद्दामधामा जगज्—
जड्घाल कलि-काल-केलि-दलनो मोहान्ध-विध्वसक ।
नित्योद्योत-पद समस्त-कमला-केली-गृह राजते,
स श्रीपार्श्वजिनो जने हितकरश्चिन्तामणि पातु माम् ॥५॥

अन्वयार्थ

यस्य—	जिनका
प्रोढतम-प्रताप-तपन —	अत्यन्त प्रौढप्रतापरूप सूर्य
प्रोद्दाम-धामा—	अत्यन्त प्रखर तेज वाला
जगज्जघाल —	समस्त जगत् को उल्लघन करने वाला
कलि-काल-केलि-दलनः—	कलि काल की क्रीडा का दलन करने वाला और
मोहान्ध-विध्वसकः—	मोहान्धकार का विध्वसक है
नित्योद्योत पदम्—	जिनके नित्य प्रकाश रूप चरण
समस्त कमला-केली -गृहम्—	समस्त सम्पदाओ की क्रीडा के लिए गृहस्वरूप
राजते—	शोभायमान हो रहे हैं
सः—	वे
चिन्तामणि—	चिन्तामणि
श्रीपार्श्वजिन —	श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र
जने—	प्राणियो के
हित-कृते—	हित करने के लिए
माम्—	मेरी
पातु —	रक्षा करें।

भावार्थ—जिनका अत्यन्त प्रतापरूप सूर्य जीवो के अज्ञानरूप अन्धकार का नाशक है, कलिकाल की लीला का दलन करने वाला है और मोहान्धासुर का विध्वसक हैं, जिनके नित्य प्रकाशमान चरण कमला (लक्ष्मी) के क्रीडागृह से समान शोभायमान है वे सर्व जनो के हित के लिए मेरी रक्षा करें।

हिन्दी पद्य

जिनका प्रताप अतुल्य है, अनुपम प्रभा के धाम हैं,
कलि-काल-केलि-विनाश-कर्ता मोह-नाशक घाम है।
जो नित्य है उद्योतकर्ता, परम कमला-धाम हैं,
श्री पार्श्व जिन हैं जग-हितैषी कल्पवृक्ष समान है ॥५॥

※

विश्वव्यापितमो हिनस्ति तरणिर्बालोऽपि कल्पांकुरो,
दारिद्र्याणि गजावली हरि-शिशु काष्ठानि वह्नेः कण.।
पीयूषस्य लवोऽपि रोग-निवह यद्वत्तथा ते विभो,
मूर्तिः स्फूर्तिमती-सती त्रिजगती-कष्टानि हर्तुं क्षमा ॥६॥

अन्वयार्थ :

विभो—	हे प्रभो !
यद्वत्—	जैसे
वालोऽपि—	उदित होता हुआ वाल
तरणिः	सूर्य भी
विश्व-व्यापि—	विश्व-व्यापी
तमः—	अन्धकार को,
कल्पाकुरः—	कल्पवृक्ष का अकुर
दारिद्र्याणि—	दारिद्र्य को
हरि-शिशु —	सिंह का बच्चा
गजावलीम्—	हाथियो की पक्ति को
वह्नेः कण.—	अग्नि का कण
काष्ठानि—	काष्ठो को;
पीयूषस्य—	और अमृत की
लवः अपि—	विन्दु भी
रोग-निवहम्—	रोगो के समूह को,
हिनस्ति—	नष्ट कर देती है
तथा—	उसी प्रकार
ते—	आपकी
स्फूर्तिमती—	देदीप्यमान
सती—	होने वाली

मूर्तिः—	यह मूर्ति
त्रि-जगती-कष्टानि—	तीनो लोको के कष्टो के
हर्तुम्—	निवारण करने के लिए
क्षमा—	समर्थ है ।

भावार्थ—हे भगवान, जैसे उदित होता हुआ वाल सूर्य ससार का अन्धकार हरने समर्थ है, कल्पवृक्ष का अकुर दरिद्रता को दूर करने में समर्थ है, सिंह का शिशु गज-समूह को विनष्ट करने मे समर्थ है, अग्नि का एक कण भी काष्ठो को जलाने मे समर्थ है और अमृत की एक बूंद भी समस्त रोगो को दूर करने मे समर्थ है उसी प्रकार आपकी यह प्रकाशमान मूर्ति भी तीनो लोको के समस्त कष्टो को विनष्ट करने मे समर्थ है।

हिन्दी पद्य .

वाल रवि है अन्ध हरता विश्वव्यापी क्यों न हो ?
द्रारिद्र को हरता सदा कल्पद्रु-अकुर क्यो न हो ?
सिंह-शशु गज-पक्ति भेदे, अग्नि-कण जगल जलावे,
पीयूष-लव भी रोग नाशे, अमर जन को वह बनावे ॥
त्यों ही प्रभो तेरी विमल मुद्रा परम सुख-दायिनी,
तीन जग के कष्ट हरती, शान्ति दे मन-भाविनी।
क्या करूँ वर्णन विभो, आता समझ मे कुछ नही,
तुव नाम का बस स्मरण करता रात-दिन मैं सब कहीं ॥६॥

*

श्री चिन्तामणिमन्त्रमोंकृति-युत ह्रींकारसाराश्रित,
श्रीमर्हन्नमिऊणपासकलित त्रैलोक्य-वश्यावहम् ।
द्वेधाभूतविषापहं विषहर श्रेय—प्रभावाश्रय,
सोल्लासं वसहांकितं जिनफुलिंगानन्दद देहिनाम् ॥७॥

अन्वयार्थ :

ओकृति-युतम्—	ओंकार से युक्त
ह्रींकार-साराश्रितम्—	ह्रींकार इस सारभूत पद मे आश्रित
'श्रीम्', 'अर्हम्', नमिऊण', पाश कलितम्	'श्री अर्हं नमिऊण' इस पाश से सयुक्त -उक्त मन्त्र
त्रैलोक्य-वश्यावहम्—	तीनो लोको को वश करने वाला है,
द्वेधा-भूत-विषापहम्—	त्रस और स्थावर इन दोनो से उत्पन्न विष को दूर करने वाला है,
विष-हरम्—	धातु-जनित विष का नाशक है,
श्रेयः-प्रभावाश्रयम्—	कल्याणकारी प्रभाव से युक्त है,
सोल्लासम्—	उल्लासमय है
व-स-ह,-अकितम्—	'व स ह' पद मे चिह्नित है
देहिनां—	और प्राणियो को
जिन-फुलिगानन्दनम्—	जिन देव के समान परिपूर्ण आनन्द का देने वाला
श्री चिन्तामणि मन्त्रम् (अस्ति)—	यह श्री चिन्तामणि मन्त्र है।

भावार्थ—यह श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ मत्र ओंकार से युक्त है' 'ह्रीं'-कार से युक्त है, 'श्री' कार से सम्पन्न है, 'अर्हं' पद से वेष्टित हैं और नमिऊण' पद से बद्ध है। यह मन्त्र तीनो लोको को वश करने वाला हैं, सर्व प्रकार के विषो को दूर करने वाला है, कल्याण का कर्ता है, प्रभाव एव यश बढाने वाला है, 'व स ह' इन अक्षरो से युक्त यह मन्त्र सर्व प्रकार की ऋद्धि सिद्धि और आनन्द को देने वाला है।

हिन्दी पद्य :

ओं ह्रीं अर्हं युक्त नमि श्री पार्श्व चिन्तामणि प्रभो,
मन्त्र यह त्रैलोक्य-वशकर, सर्प-विष-हारी विभो।
सोल्लास व-स-हांकित, प्रभावक सर्वजगदानन्द है,
धारूँ हृदय मे भक्ति-युत, शिव-सौख्य का यह कन्द है ॥७॥

※

ह्रीं श्रीकारवरं नमोऽक्षरपरं ध्यायन्ति ये योगिनो,
हृत्पद्मे विनिवेश्य पार्श्वमधिपं चिन्तामणि-सञ्ज्ञकम् ।
भाले वाम-भुजे च नाभि-करयोर्भूयो भुजे दक्षिणे,
पश्चादष्ट-दलेषु ते शिव-प्रदं द्वित्रैर्भवैर्यान्त्यहो ॥८॥

अन्वयार्थ .

ह्रीं-श्रीं-कार-वरम्—	ह्रीं श्रीकार से श्रेष्ठ
नमोऽक्षर—	नम. अक्षर जिसके अन्त मे हैं
चिन्तामणि-संज्ञकम्—	ऐसे चिन्तामणि नाम वाले
अधिपम्—	स्वामी
पार्श्वम्—	पार्श्वनाथ को
हृत्पद्मे—	हृदय-कमल मे
भाले—	मस्तक-भाल मे
वाम-भुजे—	वामभुजा मे
नाभि-करयोः—	नाभि मे, दोनो हाथो मे
च भूयः—	और
दक्षिणे—	दक्षिण
भुजे—	भुजा मे
पश्चात्—	तत्पश्चात्
अष्ट-दलेषु—	अष्ट पत्र वाले कमल में
विनिवेश्य—	स्थापित करके
ये—	जो
योगिनः—	योगीजन
ध्यायन्ति—	ध्यान करते है
ते—	वे
अहो—	आश्चर्य है कि

द्वि त्रै.	दो-तीन
भवैः—	भवो के द्वारा ही
शिव-पदम्—	शिव पद को
यान्ति—	प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जो योगीजन 'ओ ह्री श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथाय नम' इस मन्त्र को हृदय कमल मे, या मस्तष्क पर या दाहिनी भुजा पर, या बायी भुजा पर, या नाभि मे, या दोनो हाथो मे अष्टदल कमल रूप मे स्थापित करके ध्यान करते हैं, वे दो-तीन भव मे ही मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

हिन्दी पद्य ·

'ह्री श्री नम' यह मन्त्र पावन, ध्यान करते योगि जे,
चिन्तामणी श्री पार्श्व का हृत्पद्म मे नित भव्य जे।
भाल मे, या भुज-युगल मे नाभि मे, या हस्त-युग मे,
दो-तीन भव मे नियम से वे भव्य जाते मोक्ष मे ॥८॥

※

नो रोगा नैव शोका, न कलह-कलना, नारि-मारि-प्रचारा।
नैवाधिर्नासमाधि र्न च दर-दुरिते, दुष्ट-दारिद्रता नो।
नो शाकिन्यो ग्रहा नो, न हरि-करि-गणा व्याल-वेताल-जाला।
जायन्ते पार्श्वचिन्ता-मणि-नति-वशत, प्राणिना भक्ति-भाजाम् ॥९॥

अन्वयार्थ ·

भक्ति-भाजाम्—	भक्ति को करने वाले
प्राणिनाम्—	प्राणियो के
पार्श्व चिन्तामणि	
नति वशत —	श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ को नमस्कार करने मे
नो, रोगा.—	न रोग होते हैं,
न, एव, शोकाः—	नही शोक होते हैं,

न, कलह-कलना—	न कलह युद्ध होते हैं
न, अरि-मारि प्रचाराः—	न अरी मरी का प्रचार होता है
न, एव, आधिः—	न आधि होती है
न असमाधि.—	न असमाधि होती है
न च दर-दुरिते—	न भय-सकट होते हैं
नो, दुष्ट-दारिद्रता—	न दुष्ट दरिद्रता होती है
नो, शाकिन्यः —	न शाकिनी, डाकिनी
नो, ग्रहा —	न ग्रह
न, हरि-करिगणाः—	न सिंह, हाथी समूह
व्याल-वेताल जाला·—	साँप, वेताल आदि ही उपद्रव करने वाले
जायते—	होते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष चिन्तामणि पार्श्वनाथ को भक्ति भाव से नमस्कार करते हैं, उनको रोग, शोक, कलह, शत्रु, ईति-भीति, व्याधियाँ आधियाँ, चित्त विक्षेप, भय, सकट, दरिद्रता आदि नही प्राप्त होते हैं। तथा उन्हे ग्रह-बाधा, भूत, प्रेत, वेताल आदि का उपद्रव या सिंह, गज, सर्पादि का ही कभी कोई भय ही नही होता है।

हिन्दी पद्य ·

नहिं रोग हो, नहिं शोक हो, नहिं कलहकलना कोई हो,
अरि मारि हो ना, व्याधि-भय हो, ईति भीति न कोई हो।
ग्रह शाकिनी डाकिनी पिशाचिनि, व्याल वेतालादि भी,
चिन्तामणि श्री पार्श्व जिनके नाम से भागे सभी ॥९॥

※

गीर्वाण-द्रुम धेनु-कुम्भ-मणयस्तस्यागणे रिंगिणो,
देवा दानव-मानवा सविनय तस्मै हितं ध्यायिन.।
लक्ष्मीस्तस्य वशाऽवशेव गुणिना ब्रह्माण्ड-सस्थायिनी,
श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथमनिश सस्तौति यो ध्यायति ॥१०॥

अन्वयार्थ

यः—	जो पुरुष
श्री चिन्तामणि-पार्श्वम्—	श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ की
अनिशम्—	निरन्तर
सस्तौति—	स्तुति करता है
ध्यायति—	ध्यान करता है
तस्य—	उसके
अङ्गणे—	आँगन मे
गीर्वाण-द्रुम-धेनु-कुभ-मणय-	कल्पवृक्ष, कामधेनु, काम कुम्भ और चिन्तामणि रत्न
रिङ्गिणः—	क्रीडा करते है
तस्मै—	उसके लिए
देवाः—	देव
दानव-मानवा—	दानव और मानव
सविनयम्—	सविनय
हितम्—	हित के
ध्यायिन —	चिन्तन करने वाले होते हैं
तस्य—	उसके
ब्रह्माण्ड-सस्थायिनी—	ब्रह्माण्ड मे रहने वाली
लक्ष्मी —	लक्ष्मी
गुणिना, वशा, इव—	गुणीजनो के वश के समान
वशा (जायते)—	वश रहती है ।

भावार्थ—जो पुरुष श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ की सदा भक्तिभाव से स्तुति करता है, उनका ध्यान करता है, उसके घर के आँगन मे कल्पवृक्ष, कामधेनु, कामकुम्भ और चिन्तामणि-रत्न निरन्तर क्रीडा करते रहते हैं, अर्थात् सदा विद्यमान रहते हुए उसकी सभी मनोकामनाओ को पूरा करते रहते हैं ।

उसकी सभी देव, दानव और मानव हित कामना करते हैं, जैसे लक्ष्मी गुणी जनो के वश मे रहती है, उसीप्रकार श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का स्तवन और ध्यान करने वाले पुरुष के अधीन सारे ब्रह्माण्ड की लक्ष्मी रहती है।

हिन्दी पद्य :

श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनको, ध्याते सदा भक्ति से,
सो चिन्तामणि, काम-गौ, सुर-तरु तिहिं घरे विलसे सदा भक्ति से।
हो लक्ष्मी उसके अधीन मुनिजन, सेवे सदा चाव से,
होवे प्राप्त समस्त सम्पद् उसे, लोकत्रयी भाग्य से ॥१०॥

*

इति जिनपति पार्श्व पार्श्व-पार्श्वाख्ययक्ष,
प्रदलित-दुरितौघ प्रीणित-प्राणि-सार्थ।
त्रिभुवन - जन-वाञ्छा-दान-चिन्तामणीक,
शिव-पद-तरुबीज बोधिबीज ददातु ॥११॥

अन्वयार्थ :

इति—	इस प्रकार
पार्श्व-पार्श्वाऽख्य-यक्षः—	पार्श्व नाम का यक्ष जिनका सेवक हैं
प्रदलित-दुरितौघः—	जो पाप-पुज के विनाशक है
प्रीणित -प्राणि-सार्थ·—	प्राणी समूह के हर्षोत्पादक है
त्रिभुवन-जनावाछा-दान-चिन्तामणीक.—	तीनो लोको के जनो की इच्छानुसार दान देने मे चिन्तामणि रत्न के समान है
जिन-पति-पार्श्व.—	ऐसे श्री पार्श्व जिनेन्द्र
शिव-पद-तरु-बीजम्—	मोक्ष पद रूपी वृक्ष के बीज स्वरूप
बोधि-बीजम् —	बोधि-बीज को
ददातु—	देवें।

भावार्थ—पार्श्व नामक यक्ष जिनकी सदा सेवा करता है, जिन्होंने समस्त कर्मों का—पाप-समूह का विनाश किया है, समस्त जीवों को आनन्द प्रदान किया है और जो सब जीवों की मनोकामनाओं की पूर्ति करने के लिए चिन्ता-मणिरत्न के समान हैं, वे श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवान मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज रूप सम्यक्त्व बोधि मुझे प्रदान करें।

हिन्दी पद्य :

इम जिनपति पार्श्व, पास मे पार्श्वयक्ष,
दुरित दलित करता, हर्ष दे प्राणि सार्थ।
त्रिभुवन-जन-वाछा पूरते कल्पवृक्ष,
शिव पद-तरु-बीज बोधि-बीज मुझे दे ॥११॥

●□●

उपसर्ग-हर स्तोत्र

उवसग्ग-हर पास
पास वदामि कम्म-घण-मुक्क ।
विसहर - विस - निन्नास
मगल - कल्लाण - आवास ॥१॥

अन्वयार्थ :

उवसग्ग-हरं—	उपसर्गों के हरने वाले
कम्म-घण-मुक्कं—	घनघाति कर्मों से मुक्त
पासं—	पार्श्व जिनको
वंदामि—	मैं नमस्कार करता हूँ
विसहर—	विषधर सर्पों के
विस—	विष के
निन्नासे—	विनाशक और
मंगल—	मगल तथा
कल्लाण—	कल्याण के
आवासं—	आवास (स्थान)
पास —	पार्श्व जिनको
वंदामि—	नमस्कार करता हूँ ।

भावार्थ—जिन-शासन पर होने वाले उपसर्गों का विनाशक पार्श्व नामक यक्ष जिनका चरण-सेवक हैं, जो कर्मरूपी सघन मेघो से मुक्त होकर सदा

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके नाम रूप मन्त्र का जाप करना तो दूर ही रहे, भक्ति से किया गया नमस्कार भी भारी फल को देता है। आपका भक्त कभी भी मनुष्य, पशु योनि मे दुःख और दुर्भाग्य को नही पाता। वह जहां भी जन्म लेगा, सदा आनन्द मे रहेगा।

हिन्दी पद्य

दूरहि रहे तुव नाम-मन्त्र, प्रणाम भी वहुफल फले,
नारक पशु के दुःख टले, दौर्भाग्य नर-भव ना मिले।
जव तक रहे ससार मे, नर-देव-भव के सुख लहे,
तुव नाम की महिमा अतुल यह मन्दमति जन क्या कहे ॥३॥

※

तुह सम्मत्ते लद्धे,
चिन्तामणि - कप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेण
जीवा अयरामरं ठाणं ॥४॥

अन्वयार्थ :

चिन्तामणि—	चिन्तामणि और
कप्पपायवब्भहिए—	कल्पवृक्ष से भी अधिक प्रभावक
तुह—	तुम्हारा
सम्मत्ते—	सम्यक्त्व
लद्धे—	प्राप्त हो जाने पर
जीवा—	जीव
अविग्घेण—	निर्विघ्न
अयरामरं—	अजर अमर
ठाणं—	स्थान को
पावंति—	पा लेते है।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक महिमाशाली सम्यक्त्व रत्न के प्राप्त हो जाने पर आपके भक्त को किसी भी

प्रकार का भय नही रहता। वे विना किसी विघ्न-वाधा के अजर-अमर शिव पद को प्राप्त कर लेते हैं।

हिन्दी पद्य :

कल्पवृक्ष चिन्तामणि से भी परम श्रेष्ठ समकित को पाय,
ता प्रसादते अजर-अमर पद सभी जीव निर्विघ्न लहाय।
यह समकित का ही प्रभाव है, इससे होते हैं भव पार,
भूतकाल मे हुए और आगे भी होंगे इससे पार ॥

अथवा

चिन्तामणि से, कल्पतरु से भी अधिक सम्यक्त्व है,
जो प्राप्त करते हैं इसे, उनका सर्वत्र महत्त्व है।
सम्यक्त्व से ही भव्य जन निर्विघ्न होते पार हैं,
पाते अजर औ अमर पद को जहाँ सौख्य अपार है ॥४॥

※

इअ सथुओ महायस !
भत्तिब्भर-निब्भरेण हियएण।
ता देव ! दिज्ज-बोहिं
भवे-भवे पास जिणचद ॥५॥

अन्वयार्थ :

महायस—	हे महायशस्विन् !
भत्ति-भर—	भक्ति भार से
निब्भर—	निर्भर
हियएण—	हृदय द्वारा
इअ—	इस प्रकार
संथुओ—	स्तुति किये गये
देव—	हे देव !
पास—	पार्श्व
जिणिद—	जिनेन्द्र !
भवे भवे—	भव-भव मे
बोहिं—	मुझे बोधि
दिज्ज—	दो।

प्रकाशमान हैं, जिनके नाम का स्मरण करने मात्र से काले साँप का महाभयकर विष सर्वथा दूर हो जाता है, जो मगल-कारक और कल्याण के निवास-स्थान हैं, ऐसे पार्श्वनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

हिन्दी पद्य

उपसर्ग-हर श्री पार्श्व जिनवर, सकल मगलकार हैं,
घन कर्म-बन्धन-मुक्त है, सर्पादि विष-हरतार हैं।
कल्याण के जो धाम हैं, पर स्वय जो निष्काम हैं,
अति भक्ति से वन्दू उन्हे जो पाद-पद्म ललाम हैं ।।१।।

※

विसहर - फुल्लिग - मत
कण्ठे धारेइ जो सया मणुओ।
तस्स गह-रोग-मारी
दुट्ठ-जरा जति उवसाम ।।२।।

अन्वयार्थ

जो मणुओ—	जो मनुष्य
विसहर—	विष-हरण करने वाले
फुलिग-मत—	पार्श्व जिनेन्द्र के स्फुरायमान नाम रूप मन्त्र को
सया—	सदा
कठे—	कण्ठ मे
धारेइ —	धारण करता है
तस्स—	उसके
गह-रोग-मारी—	ग्रह, रोग, मारी और
दुट्ठ जरा—	दुष्ट जरा (बुढापा)
उवसाम—	उपशान्त
जति—	हो जाते हैं।

भावार्थ—सर्प के विष को दूर करने के लिए श्री पार्श्व जिनेन्द्र का पवित्र नाम ही सर्वोत्कृष्ट मन्त्र है। जो मनुष्य इसे सदा अपने कण्ठ मे धारण करता है, उसके दुष्ट ग्रह, भयानक रोग, मारी, जरा आदि सर्व उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

हिन्दी पद्य

सर्पादि के विष दूर करने नाम जिनका मन्त्र है,
जो कण्ठ मे धारे सदा वह भव्य परम पवित्र है।
सब रोग मारी ज्वर-जरादिक पास नहिं आवे कदा,
ग्रह भूत प्रेतादिक भगे तुव नाम लेते ही सदा ॥२॥

※

चिट्ठउ दूरे मन्तो
तुज्झ पणामो वि बहु-फलो होइ।
नर-तिरिएसु वि जीवा
पावंति न दुक्ख-दोहग्ग ॥३॥

अन्वयार्थ

मतो—	हे भगवन् ! आपके नाम का मन्त्र
दूरे—	दूर ही
चिट्ठउ—	रहे
तुज्झ	आपको किया गया
पणामो वि—	नमस्कार भी
बहुफलो—	बहुत फल वाला
होइ—	होता है तथा उसके प्रभाव से
जीवा—	जीव
नर-तिरिएसु वि	मनुष्य और तिर्यंच गति मे भी
दुक्ख-दोहग्ग—	दुःख और दुर्भाग्य को
न पावति—	नही पाते है।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपके नाम रूप मन्त्र का जाप करना तो दूर ही रहे, भक्ति से किया गया नमस्कार भी भारी फल को देता है। आपका भक्त कभी भी मनुष्य, पशु योनि मे दुःख और दुर्भाग्य को नही पाता। वह जहाँ भी जन्म लेगा, सदा आनन्द मे रहेगा।

हिन्दी पद्य

दूरहि रहे तुव नाम-मन्त्र, प्रणाम भी वहुफल फले,
नारक पशु के दुःख टले, दौर्भाग्य नर-भव ना मिले।
जव तक रहे ससार मे, नर-देव-भव के सुख लहे,
तुव नाम की महिमा अतुल यह मन्दमति जन क्या कहे ॥३॥

※

तुह सम्मत्ते लद्ध,
चिन्तामणि - कप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं
जीवा अयरामर ठाण ॥४॥

अन्वयार्थ

चिन्तामणि—	चिन्तामणि और
कप्पपायवब्भहिए—	कल्पवृक्ष से भी अधिक प्रभावक
तुह—	तुम्हारा
सम्मत्ते—	सम्यक्त्व
लद्धे—	प्राप्त हो जाने पर
जीवा—	जीव
अविग्घेण—	निर्विघ्न
अयरामर—	अजर अमर
ठाणं—	स्थान को
पावंति—	पा लेते है।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक महिमाशाली सम्यक्त्व रत्न के प्राप्त हो जाने पर आपके भक्त को किसी भी

प्रकार का भय नही रहता। वे विना किसी विघ्न-बाधा के अजर-अमर शिव पद को प्राप्त कर लेते हैं।

हिन्दी पद्य

कल्पवृक्ष चिन्तामणि से भी परम श्रेष्ठ समकित को पाय,
ता प्रसादते अजर-अमर पद सभी जीव निर्विघ्न लहाय।
यह समकित का ही प्रभाव है, इससे होते हैं भव पार,
भूतकाल मे हुए और आगे भी होगे इससे पार ॥

अथवा

चिन्तामणि से, कल्पतरु से भी अधिक सम्यक्त्व है,
जो प्राप्त करते है इसे, उनका सर्वत्र महत्त्व है।
सम्यक्त्व से ही भव्य जन निर्विघ्न होते पार हैं,
पाते अजर औ अमर पद को जहाँ सौख्य अपार है ॥४॥

※

इअ सथुओ महायस !
भत्तिब्भर-निब्भरेण हियएण।
ता देव ! दिज्ज-बोहिं
भवे-भवे पास जिणचंद ॥५॥

अन्वयार्थ :

महायस—	हे महायशस्विन् !
भत्ति-भर—	भक्ति भार से
निब्भर—	निर्भर
हियएण—	हृदय द्वारा
इअ—	इस प्रकार
संथुओ—	स्तुति किये गये
देव—	हे देव !
पास—	पार्श्व
जिणिंद—	जिनेन्द्र !
भवे भवे—	भव-भव मे
बोहिं—	मुझे बोधि
दिज्ज—	दो।

भावार्थ—हे महायशशालिन् भगवन्! इस प्रकार भक्ति-भार से भरपूर हृदय के द्वारा मैंने आपकी स्तुति की है, अतएव जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक भव-भव मे मुझे रत्नत्रयरूप बोधिका प्रदान करो।

हिन्दी पद्य :

अति भक्ति-भर-निर्भर हृदय से है महायश आपका,
सस्तवन मैंने किया है गुण-गान कीना आपका।
तो देव! देवे बोधि को, जब तक रहूँ ससार मे
हे पार्श्व जिनवर! आप ही आधार है भव-पार मे ॥५॥

मन्त्र

"नमिऊण पास विसहर
वसह जिण फुलिग ॥"

अन्वयार्थ :

विसहर—	विप को हरण करने वाले
पास—	पार्श्व जिन को
नमिऊण—	नमस्कार करके (मैं तेरा ध्यान करता हूँ)
जिण—	हे जिनेन्द्र! सदा मेरे हृदय मे
फुलिग—	स्फुरायमान रूप से
वसह—	निवास करो।

भावार्थ—इस उपसर्ग-हर स्तोत्र का मूलमन्त्र 'नमिऊण पास विसहर वसह जिण फुलिग' है, जिसका सकेत स्तोत्र की दूसरी गाथा मे किया गया है। यह भद्रबाहुस्वामी के द्वारा रचित स्तोत्र जो भक्तजन नित्य स्मरण करते हैं, वे विघ्न-बाधाओं से रहित सानन्द जीवनयापन करके परम्परा से परम धाम को प्राप्त करते हैं।

हिन्दी पद्य :

नमिऊण पास विसहर,
वसह जिण फुलिग।
इस मन्त्र का नित जाप कीजे
भव-पार हो उछग ॥६॥

※ ※ ※

महावीराष्टक स्तोत्र

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचित,
सम भान्ति ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसतोऽन्तरहिता ।
जगत्साक्षी मार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥१॥

अन्वयार्थ

यदीये—	जिनके
चैतन्ये—	चैतन्यरूप ज्ञान मे
ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसन्त.-	ध्रौव्य व्यय और उत्पाद से सयुक्त
अन्त-रहिता.—	अनन्त
चिदचित·—	चेतन और अचेतन
भावा.—	पदार्थ
मुकुर—	दर्पण के
इव—	समान
समम्—	एक साथ
भान्ति—	प्रतिबिम्बित होते हैं
जगत्साक्षी—	जगत् के साक्षात्कार करने वाले
भानु इव—	सूर्य के समान
य.—	जो
मार्ग-प्रकटन पर.—	मोक्ष मार्ग के प्रकाशक हैं

(स.)महावीर स्वामी—वे महावीर स्वामी
मे— मेरे
नयन-पथगामी— नेत्रो के मार्ग गामी
भवतु— होवें ।

भावार्थ—जिस प्रकार दर्पण मे सम्मुख-स्थित पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार जिनके केवल ज्ञान मे सभी चेतन-अचेतन अनन्त पदार्थ अपने-अपने उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य गुण के साथ युगपत् प्रतिभासित होते हैं, जो सारे विश्व को साक्षात् देखते हैं, सूर्य के समान मोक्षमार्ग के प्रकट करने वाले हैं, ऐसे श्री महावीर स्वामी हमारे दृष्टिगोचर होवें ।

हिन्दी पद्य

जिन्हो की प्रज्ञा में मुकुर-सम चेतन्य जड भी,
स्थिति नाशोत्पत्ती-युत झलकते साथ सब ही ।
जगद्-ज्ञाता मार्ग प्रकट करते सूर्य-सम जो,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे ॥१॥

※

अताम्रं यच्चक्षु-कमल-युगल स्पन्द-रहित,
जनान् कोपाऽपाय प्रकटयति वाऽभ्यन्तरमपि ।
स्फुट मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वाऽति विमला,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥२॥

अन्वयार्थ

अताम्रम्— लालिमा-रहित
स्पद-रहितम्— परिस्पन्द-रहित
यच्चक्षु-कमल-युगलम्—जिनके नयन-कमल-युगल
जनान्— मनुष्यो को
अभ्यन्तरम्— भीतरी
कोपाऽपायम्— क्रोध के अभाव को

वा-अपि—	भी
प्रकटयति—	प्रकट करते हैं,
यस्य—	जिनकी
मूर्ति —	मुद्रा (आकृति)
स्फुटम्—	स्पष्ट रूप से
प्रशमितमयी—	परम शान्ति की धारक है
वा—	और
अति-विमला—	अत्यन्त निर्मल है,
(स) महावीर स्वामी—	वे श्री महावीर स्वामी मेरे नेत्रो के
नयन-पथगामी भवतु मे—	मार्ग गामी होवें।

भावार्थ—जिनके नेत्र कमल-युगल लालिमा से रहित है और परिस्पन्द (टिमकार) से रहित होने से अन्तरग मे-क्रोध के सर्वथा अभाव को प्रकट करते हैं, जिनकी मूर्ति परम शान्त एव अति निर्मल है, वे श्री महावीर स्वामी मेरे नेत्रो के दृष्टिगोचर होवें।

हिन्दी पद्य.

जिन्हो के दो चक्षू पलक अरु लाली-रहित हो
जनों को दर्शाते हृदय-गत क्रोधातिलय को।
जिन्होकी निर्लेपा प्रशमितमयी मूर्त्ति विमला,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे ॥२॥

※

नमन्नाकेन्द्राली - मुकुट-मणि-भा-जाल - जटिल,
लसत्पादाम्भोज-द्वयमिह यदीय तनु-भृताम्।
भव-ज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जल वा स्मृतमपि,
महावीरस्वामी नयन-पथगामी भवतु मे ॥३॥

अन्वयार्थ

यदीयम्—	जिनके
नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट-	नमन करते हुए देवेन्द्रो की पक्ति-वद्ध
मणि-भा-जाल-जटिलम्—	शिरोमुकुटो की मणियो की प्रभा-पुज से व्याप्त

लसत्पादाम्भोज-द्वयम्—प्रकाशमान चरण-कमल-युगल
इह— इस लोक मे
तनु-भृताम्— शरीर-धारियो की
भव ज्वाला-शान्त्यै— भव-ज्वाला की शान्ति के लिए
प्रभवति— समर्थ है,
वा— अथवा
स्मृतम् अपि — जिनका स्मरणरूप
जलं— जल भी
(भव ज्वाला-शान्त्यै) भव-ज्वाला की शान्ति
(प्रभवति)— के लिए समर्थ है
(स') महावीरस्वामी —वे महावीर स्वामी मेरे नेत्रो के
नयन-पथगामी भवतु मे —मार्गगामी होवें ।

भावार्थ—जिनके दोनो चरण कमल नमस्कार करते हुए देवेन्द्रो के मुकुटो मे जडी हुई मणियो की प्रभा के पुज से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त शोभित हो रहे हैं और शरीरधारी प्राणियो की भव-ज्वाला शान्त करने के लिए जिनका स्मरणरूप जल समर्थ है, वे श्री महावीर स्वामी मेरे दृष्टिगोचर होवें ।

हिन्दी पद्य ·

नमन्ते इन्द्रो के मुकुट मणि की कान्ति धरता,
जिन्होके पादों का युग ललित सन्तप्त जनको ।
भवाग्नी का हर्ता स्मरण करते ही सुजल है,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे ॥३॥

※

यदर्चा-भावेन प्रमुदित-मना दर्दुर इह,
क्षणादासीत् स्वर्गी गुण-गण-समृद्ध सुख-निधि. ।
लभन्ते सद्भक्ता शिव-सुख-समाज किमु तदा,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥४॥

अन्वयार्थ

यदर्चा-भावेन—	जिनकी पूजन के भाव से
प्रमुदित-मना—	हर्षित चित्त
दर्दुर—	मेढक
इह—	इस लोक मे
क्षणात्—	एक क्षणमात्र से
गुण-गण समृद्ध—	गुण-गणो से समृद्ध (सम्पन्न)
सुख-निधि —	सुख का निधान
स्वर्गी —	स्वर्ग का देव
आसीत्—	हो गया
सद्भक्ता:—	फिर सच्चे भक्तजन
शिव-सुख-समाजम्—	सच्चे सुख से भरे हुए शिवपद को
लभन्ते —	पावें
तदा किमु—	तो इसमे क्या आश्चर्य है ?
(स.) महावीर स्वामी-	वे महावीर स्वामी मेरे नेत्रो के
नयन पथगामी भवतु मे—	मार्ग-गामी होवें ।

भावार्थ—जिनकी पूजा करने के भाव से प्रमोद को प्राप्त हुआ मेढक इस लोक मे ही राजा श्रेणिक के हाथी के पगतले दवकर मरा और क्षण भर मे अणिमा-महिमा आदि अनेक गुणरूपी ऋद्धियो से समृद्ध और सुख से सम्पन्न स्वर्ग का देव हो गया तो जो आपके सच्चे भक्त हैं, वे यदि शिव (मोक्ष) के सुख-समूह को प्राप्त करते हैं तो इसमे क्या आश्चर्य है ? कुछ भी आश्चर्य नही है । ऐसे श्री महावीर स्वामी मेरे दृष्टिगोचर होवें ।

हिन्दी पद्य

जिन्होकी पूजा से मुदित मन हो मेढक जभी,
हुआ स्वर्गी ताही समय गुणधारी अति सुखी ।
लहै जो मुक्ती के सुख भगत तो विस्मय कहा,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे ॥४॥

☸

कनत्स्वर्णाभासो व्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो
विचित्रात्माऽप्येको नृपतिवर-सिद्धार्थतनय. ।
अजन्माऽपि श्रीमान् विगत भवरागोऽद्भुत-गति—
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ।।५।।

अन्वयार्थ :

कनत्स्वर्णाभासः अपि—	तपाये (चमकते) हुए सुवर्ण के समान कान्ति वाला
अपगत-तनुः—	पौद्गलिक शरीर-रहित
ज्ञान-निवहः—	ज्ञान-पुज
एक·—	अद्वितीय
विचित्रात्मा, अपि—	विलक्षण स्वरूपी
नृपतिवर सिद्धार्थ तनयः—	महाराज सिद्धार्थ के नन्दन
अजन्मा अपि—	अजन्मा होकर भी
श्रीमान्—	श्रीमान हैं
विगत-भवराग —	सासारिक राग से रहित हैं ।
अद्भुत-गतिः—	अद्भुत शक्ति के धारक हैं,
महावीर स्वामी नयन-पथगामी भवतु मे—	वे महावीर स्वामी मेरे नेत्रो के मार्ग-गामी होवें ।

भावार्थ—तीर्थंकर पर्याय मे तपाये हुए सुवर्ण के समान देह के धारक थे, किन्तु अव सिद्ध अवस्था मे ज्ञान पुज है अर्थात् अशरीरी है, शुद्ध चैतन्य रूप से एक होकर के भी दर्शन, सुख, वीर्यादि अनन्त गुणों के धारक होने से विचित्र आत्म-स्वरूप वाले हैं, महाराज सिद्धार्थ के पुत्र होकर के भी अव अजन्मा है, अन्तरग-वहिरग लक्ष्मी के स्वामी श्रीमान होकर के भी भव-राग से विमुक्त है, इस प्रकार मे परस्पर विरोधी स्वभाव के धारण करने से अद्भुत गति वाले श्री महावीर स्वामी मेरे दृष्टिगोचर होवें ।

हिन्दी पद्य :

तपें सोने ज्यो भी रहित वपु से, ज्ञान-गृह है,
अकेले नाना भी नृपति वर सिद्धार्थ सुत हैं।
अजन्मा भी श्रीमान्, भव-रत नही, अद्भुतगती,
महावीरस्वामी दरश हमको दे प्रकट वे ॥५॥

*

यदीया वाग्गगा विविध-नय-कल्लोल-विमला,
बृहज्-ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनता या स्नपयति।
इदानीमप्येषा बुध-जन-मरालै परिचिता,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥६॥

अन्वयार्थ :

यदीया—	जिनकी
या—	यह
विविध-नयकल्लोल-	अनेक नयरूप तरगो से
विमला—	उज्ज्वल
वाग्-गगा—	वाणी रूपी गगा
वृहज्-ज्ञानाम्भोभि —	विपुल ज्ञानरूप जल से
जगति—	इस लोक मे
जनताम्—	प्राणियो का
स्नपयति—	अभिषेक करके उनके सन्ताप को शान्त करती है।
इदानीम्, अपि—	और आज भी
एषा—	यह
वुध-जन-मरालै.—	विद्वज्जन रूपी हसो से
परिचिता—	परिचित हो रही है
(स) महावीर स्वामी	वे महावीरस्वामी मेरे नेत्रो के
नयन पथगामी भवतु मे—	मार्ग-गामी होवें।

भावार्थ—अनेक प्रकार के नयरूप कल्लोलो (तरगो) से युक्त होकर के भी निर्मल स्वरूप वाली जिनकी दिव्यध्वनि रूपी वचन-गगा आज भी विशाल जल प्रवाह से जगत की जनता को स्नान करा रही है और विद्वज्जन रूपी हसो से परिचित (व्याप्त) है, ऐसे श्री महावीर स्वामी मेरे दृष्टिगोचर होवें।

हिन्दी पद्य

जिन्होकी वाग्गगा अमल नय-कल्लोल धरती,
नहाती लोगो को, सुविमल महाज्ञान जल से।
अभी भी सेते है बुधजन महाहस जिसको,
महावीर स्वामी दरश हमको दे प्रकट वे ॥६॥

※

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभट,
कुमारावस्थायामपि निज-वलाद् येन विजित।
स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशम-पद-राज्याय स जिन,
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥७॥

अन्वयार्थ :

येन—	जिसने
कुमारावस्थायाम्—	कुमार अवस्था मे
अपि—	भी
स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशम-पद-राज्याय—	स्फुरायमान नित्य आनन्द वाले प्रशान्त शिव-पद के राज्य को पाने के लिए
निज-वलात्—	अपने आत्म-वल मे
अनिर्वारोद्रेक.—	दुर्निवार उद्रेक वाले
त्रिभुवन-जयी—	त्रिभुवन-विजेता
काम-सुभट·—	कामरूपी महान् योद्धा को
विजित·—	जीना है
स —	वे
जिनः—	जिनेन्द्र
महावीर स्वामी नयन पथगामी भवतु मे—	महावीर स्वामी मेरे नेत्रो के मार्ग-गामी होवें।

भावार्थ—जिसका प्रवल उदय निवारण नहीं किया जा सकता और जिसने त्रिभुवन के समस्त जीवो को जीत लिया है अर्थात् अपने अधीन कर रखा है, ऐसे महान् योद्धा कामदेव को भी जिन्होंने स्फुरायमान नित्य आनन्द रूप प्रशम पद (मोक्ष) का राज्य पाने के लिए अपने प्रवल पराक्रम से कुमार-काल में ही पराजित कर दिया अर्थात् जीता है ऐसे श्री महावीर स्वामी मेरे दृष्टि-गोचर होवें।

हिन्दी पद्य .

त्रिलोकी का जेता, मदन-भट जो दुर्जय महा,
युवावस्था मे भी, वह दलित कीना स्व-बल से।
प्रकाशी मुक्ती के अति सुखद दाता जिन विभू,
महावीरस्वामी दरश हमको दें प्रकट वे ॥७॥

※

महा-मोहातङ्क - प्रशमन-पराऽऽकस्मिक-भिषक्
निरापेक्षोबन्धु विदित-महिमा-मगल-कर.।
शरण्य: साधूनां भव-भय-भृतामुत्तम-गुण,
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥८॥

अन्वयार्थ :

महा-मोहातंक-प्रशमन	महान् मोह के आतंक को सर्वथा शान्त
पराऽऽकस्मिक भिषक् —	करने मे तत्पर आकस्मिक (अकारण) वैद्य
निरापेक्ष —	अपेक्षा-रहित
बन्धु —	परम बन्धु
विदित-महिमा—	सर्व-विदित महिमा वाले
मंगल-कर —	मगल-कारक
भव-भय-मृताम्—	ससार के भय से मरे हुए
साधुनाम्—	साधुजनो को

शरण्य —	शरण देने वाले
उत्तम गुण —	परमोत्कृष्ट गुणशाली
महावीर स्वामी नयन	वे महावीर स्वामी मेरे नेत्रो के
पथगामी भवतु मे—	मार्ग-गामी होवें ।

भावार्थ—जो महा मोहरूपी आतक (शीघ्र प्राण-हारक रोग) को सर्वदा के लिए शान्त करने वाले आकस्मिक वैद्य है, ससार के समस्त जीवो के अकारण बन्धु हैं, जगत् मे जिनकी महिमा विख्यात है, जो सर्वका कल्याण करने वाले हैं, ससार के भय से डरने वाले साधुजनो को शरण देने वाले हैं और सभी उत्तम गुणो के धारक है ऐसे श्री महावीर स्वामी मेरे नेत्रो के दृष्टिगोचर होवें।

हिन्दी पद्य

महामोहव्याधी-हरण-करता, वैद्य सहज,
विना इच्छा बन्धु, प्रथित जग कल्याण करता ।
सहारा भव्यो को, सकल जग मे उत्तम गुणी,
महावीरस्वामी, दरश हमको दें प्रकट वे ॥८॥

※

महावीराष्टक स्तोत्र,
भक्त्या भागेन्दुना कृतम् ।
य पठेच्छृणुयाच्चापि,
स याति परमा गतिम् ॥९॥

अन्वयार्थ

भागेन्दुना—	भागचन्द्र-द्वारा
भक्त्या—	भक्ति से
कृतम्—	रचित
महावीराष्टकम्—	इस आठ पद्यमय महावीराष्टक
स्तोत्रम्—	स्तोत्र को
य.—	जो

पठेत्—	पढेगा
च, अपि —	और (अथवा)
शृणुयात्—	सुनेगा
स —	वह
परमाम्—	परम
गतिम्—	शिवगति को
याति—	जायगा।

भावार्थ—इस महावीरहाष्टक स्तोत्र को भक्ति से प्रेरित होकर मुझ भागचन्द्र ने रचा है, जो इसे पढेंगे और सुनेंगे वे परम उत्कृष्ट शिवगति को प्राप्त होवें।

हिन्दी पद्य

संस्कृत वीराष्टक रचा, भागचन्द रुचिवान।
उसका यह अनुवाद भवि, पढ पावे निर्वान॥९॥

❋ ❋ ❋

अमितगति-द्वात्रिंशिका

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम् ।
माध्यस्थ्य-भावं विपरीत-वृत्तौ,
सदा ममाऽऽत्मा विदधातु देवः ॥१॥

अन्वयार्थ ·

देव—	हे भगवन् !
मम-आत्मा—	मेरा आत्मा
सदा—	सदा ही
सत्त्वेषु—	सर्व प्राणियो पर
मैत्रीम्—	मैत्री भाव को
गुणिषु—	गुणी जनो पर
प्रमोदम्—	प्रमोद भाव को
क्लिष्टे-जीवेषु—	दुःखी जीवो पर
कृपा-परत्वम्—	करुणा भाव को
विपरीत-वृत्तौ—	और विपरीत वृत्ति वाले पर
माध्यस्थ्य-भावम्—	मध्यस्थ भाव को
विदधातु—	धारण करें ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! मेरा सदा सब प्राणियो पर मैत्री भाव रहे । गुणी जनो को देखकर प्रमोदभाव उत्पन्न हो, दुखी जीवो पर करुणा भाव रहे और विपरीत आचरण करने वाले लोगो पर माध्यस्थ भाव रहे । हे देव ! मुझे ये चारो गुण दीजिए ।

हिन्दी पद्य :

हो[1] विश्वमैत्री, करुणा दुखी पै,
प्रमोद हो नित्य गुणी जनो मे।
मध्यस्थता होय विरोधियो पै
सुबुद्धि[2] देवे जिनदेव मेरे ॥१॥

※

शरीरत कर्तुमनन्त-शक्तिम्,
विभिन्नमात्मानमपास्त-दोषम् ।
जिनेन्द्र! कोषादिव खड्ग-यष्टिम्,
तव प्रसादेन ममाऽस्तु शक्ति ॥२॥

अन्वयार्थ :

जिनेन्द्र—	हे जिनेन्द्र देव!
कोषात्—	म्यान से
खड्ग-यष्टि इव—	तलवार के समान
अनन्त-शक्तिम्—	अनन्त शक्ति वाले
अपास्त-दोषम्—	सर्व दोषो से रहित
आत्मानम्—	अपने आत्मा को
शरीरत.—	शरीर से
विभिन्नम्—	विभिन्न
कर्तुम्—	करने के लिए
तव—	आपके
प्रसादेन—	प्रसाद से
मम—	मेरी
शक्ति —	शक्ति
अस्तु—	हो।

---

१ अथवा—मैत्री सभी मे, २ अथवा—यह बुद्धि।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! तेरे प्रसाद से मुझ मे ऐसी शक्ति प्रगट हो कि जिससे मैं अपने अनन्त शक्ति वाले और सर्व दोषो से रहित अपने आत्मा को शरीर से इस प्रकार पृथक् कर सकूँ जैसे कि कोई म्यान से तलवार को निकाल कर पृथक् कर देता है ।

हिन्दी पद्य :

अनन्त वीर्यान्वित, वीतरागी,
शरीर से भिन्न करूँ निजात्मा ।
ज्यो कोश से भिन्न करे कृपाण,
देवेन्द्र, देवे यह शक्ति मेरे ॥२॥

※

दु खे - सुखे वैरिणि वन्धु-वर्गे,
योगे - वियोगे भवने वने वा ।
निराकृताऽशेप - ममत्व - वुद्धे,
सम मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ! ॥३॥

अन्वयार्थ :

नाथ—	हे स्वामिन् !
निराकृताशेपममत्व—	समस्त पर-पदार्थों से ममत्वबुद्धि को
वुद्धेः—	दूर करने वाला
मे मनः—	मेरा मन
दु.खे—	दु ख मे
सुखे—	सुख मे
वैरिणी—	शत्रु मे
वन्धु-वर्गे—	वन्धुवर्ग में
योगे—	सयोग मे
वियोगे—	वियोग मे
भवने—	भवन मे
वा वने—	और वन मे
सवा-अपि—	सदा ही
समम्—	समान
अस्तु—	रहे ।

भावार्थ—हे नाथ ! मेरा मन दुःख मे, सुख मे, शत्रु जनो पर और बन्धु वर्ग पर, अनिष्ट सयोग या इष्टवियोग मे, वन मे या भवन मे राग द्वेष और ममत्व बुद्धि छोडकर सदा समान रहे।

हिन्दी पद्य :

दुःखो सुखो मे, अरि-बन्धुओ मे,
वियोग-संयोग दशादिको मे।
प्रासाद मे भी वन-खण्ड मे या
जिनेन्द्र ! हो बुद्धि समान मेरी ॥३॥

❋

मुनीश ! लीनाविव कीलिता विव,
स्थिरौ निषाताविव बिम्बिताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठता सदा,
तमो धुनानो हृदि दीपकाविव ॥४॥

अन्वयार्थ :

मुनीश—	हे मुनीश्वर !
तमो—	अन्धकार के
धुनानौ—	विनाशक
दीपकौ इव—	दो दीपको के समान
त्वदीयौ—	आपके
पादौ—	दोनो चरण
मम हृदि—	मेरे हृदय मे
लीनौ इव—	लीन हो गये के समान
कीलितौ इव—	कीलित हुए के समान
स्थिरौ निषातौ इव—	स्थिर हो गये के समान, उत्कीर्ण कर दिये गये के समान अथवा
बिम्बितौ इव—	प्रतिबिम्बित के समान
सदा—	सदा
तिष्ठताम्—	विराजमान रहैं।

भावार्थ—हे मुनीश ! अज्ञान अन्धकार के विनाश करने वाले आपके दोनो चरण कमल मेरे हृदय मे लीन हुए के समान, या कील दिये गये के समान या उत्कीर्ण कर दिये के समान स्थिर और प्रतिबिम्बित होते हुए दीपक के समान सदा प्रकाश करते हुए विराजमान रहे।

हिन्दी पद्य

अज्ञान-नाशी तव पाद दोनो,
वसे सदा ही चित-माहि मेरे।
चित्राकित ज्यो, मणि-दीपिका ज्यो,
कीले गये, या स्थिति पा गये हो ॥४॥

※

एकेन्द्रियाद्या यदि देव ! देहिन
प्रमादत सचरता इतस्तत ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता,
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठित तदा ॥५॥

अन्वयार्थ

देव—	हे देव !
इतस्तत —	इधर-उधर
सचरता (मया)—	सचार करते हुए मेरे द्वारा
यदि—	यदि
एकेन्द्रियाद्या·—	एकेन्द्रिय आदि
देहिन·—	प्राणी
क्षता —	विनष्ट हुए हो
विभिन्ना —	छिन्न-भिन्न कर दिये गये हो
मिलिता—	परस्पर मे मिला दिये गये हो या
निपीडिता —	पीडित किये गये हो
तदा—	तब

तत् (मे)—	वह मेरा
दुरनुष्ठितम्—	दुराचरण दुष्कृत
मिथ्या—	मिथ्या
अस्तु—	होवे।

भावार्थ—हे देव ! यदि प्रमाद से इधर-उधर चलते हुए एकेन्द्रिय आदि जीव क्षत-विक्षत पीडित-सम्मिलित या छिन्न-भिन्न हो गये हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या होवें।

हिन्दी पद्य :

एकेन्द्रि[1] को आदि लगा अनेकों,
प्राणी[2] मरे हो चलते हुए मे।
प्रमाद से पीडित छिन्न-भिन्न,
हो, पाप मिथ्या सब देव मेरे ॥५॥

※

विमुक्ति - मार्ग -प्रतिकूल - वर्त्तिना,
मया कषायाऽक्ष-वशेन दुर्धिया।
चरित्र-शुद्धेर्यदकारि लोपन,
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ! ॥६॥

अन्वयार्थ

विमुक्ति मार्ग-प्रतिकूल -वर्तिना—	मोक्षमार्ग के प्रतिकूल आचरण करने वाले
दुर्धिया—	दुर्बुद्धि
मया—	मेरे द्वारा
कषायाऽक्ष-वशेन—	कषाय और इन्द्रियो के वश होकर

---

१ अथवा—एकेन्द्रि या जगम जीव जो भी।

२ अथवा—स्वामिन्।

चारित्र-शुद्धे —	चारित्र की शुद्धि का
यत् लोपनम्—	जो विलोप
अकारि—	किया गया हो तो
प्रभो —	हे प्रभो !
मम—	मेरा
तत्—	वह
दुष्कृतम्—	दुष्कृत
मिथ्या —	मिथ्या
अस्तु—	होवें।

भावार्थ — हे प्रभो ! मुक्ति मार्ग से प्रतिकूल आचरण करके विषय कषाय वश होकर मुझ दुर्बुद्धि ने यदि चारित्र की शुद्धि का यदि विलोप किया हो तो मेरा यह दुष्कृत मिथ्या होवे।

हिन्दी पद्य

हा ! मुक्ति-मार्ग-प्रतिकूल होके,
या, इन्द्रियाधीन विमूढ होके।
चारित्र की शुद्धि विलुप्त की हो,
तो नाथ ! मिथ्या मम पाप होवें ॥६॥

※

विनिन्दनाऽऽलोचनगर्हणैरहम्,
मनो - वचः - काय - कषाय-निर्मितम्।
निहन्मि पाप भव-दुःख-कारण,
भिषग् विष मन्त्र-गुणैरिवाऽखिलम् ॥७॥

अन्वयार्थ

भिषक्—	वैद्य
मंत्र-गुणैः—	मन्त्र-गुणो के द्वारा
अखिल, विषम् इव —	जैसे समस्त विष को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार

अहम्— मैं

विनिन्दिनाऽऽलोचन-गर्हणैः—निन्दा आलोचना और गर्हणा के द्वारा

मनो-वच काय-कषाय

निर्मितम्— मन, वचन, काय और कषाय से उपार्जित ऐसे

भव-दु ख-कारणम्— ससार के दु खो के कारणभूत

पापम्— पाप को

निहन्मि— नष्ट करता हूं ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मैंने मन, वचन, काय और कषाय के द्वारा भव दु ख का कारण जो पाप सञ्चित किया है उसे अपनी निन्दा, गर्हा और आलोचना के द्वारा उसी प्रकार से नष्ट करता हूं जैसे वैद्य मन्त्र के गुणो द्वारा समस्त विष को नष्ट कर देता है ।

हिन्दी पद्य :

मनो वच काय-कषाय से मैं
ससार-दु.ख-प्रद पाप कीने ।
आलोचना, गर्हण, निन्दना कर,
नाशू, यथा वैद्य विषादि नाशे ।।७।।

❊

अतिक्रम यं विमतेर्व्यतिक्रम,
जिनाऽतिचार सुचरित्रकर्मण ।
व्यधा मनाचारमपि प्रमादत
प्रतिक्रम तस्य करोमि शुद्धये ।।८।।

अन्वयार्थ

जिनः— हे जिनेन्द्र भगवन् !

(अहम्)— (मैंने)

सुचरित्र कर्मण.— उत्तम चारित्र के कार्य को

प्रमादत.—	प्रमाद से
यम्—	जो
अतिक्रमम्—	अतिक्रम
व्यतिक्रमम् —	व्यतिक्रम
अतिचारम्—	अतिचार और
अनाचारम्, अपि—	अनाचार भी
व्यधाम्—	किया
तस्य—	उसकी
शुद्धये—	शुद्धि के लिए
प्रतिक्रमम्—	प्रतिक्रमण
करोमि—	करता हूँ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! मैंने ग्रहण किए हुए चारित्र के पालन करने मे जो प्रमाद और कुबुद्धि वश अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार किया है उसकी शुद्धि के लिए मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

हिन्दी पद्य :

चारित्र की शुद्धि-विषे कदाचित्,
अतिक्रमादि व्यतिपात होवे।
हो या अनाचार, व्यतिक्रमा वा,
शुद्धयर्थ निन्दा, अव मैं करूँ हूँ ॥८॥

❋

क्षतिं मन.-शुद्धि-विधेरतिक्रमं
व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विपयेषु वर्तनं
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

अन्वयार्थ :

प्रभो—	हे प्रभो !
इह (ज्ञानिन.)—	ज्ञानी जन

मनः-शुद्धि-विधे —	मन की शुद्धि-विधि के
क्षतिम्—	विनाश को
अतिक्रमम्—	अतिक्रम
शीत-वृतेः—	शील की वाड के
विलघनम्—	उल्लघन को
व्यतिक्रमम्—	व्यतिक्रम
विषयेषु—	विषयो मे
वर्तनम् —	प्रवर्तन को
अतिचारम् —	अतिचार और
अतिसक्तताम्—	अति आसक्ति को
अनाचारम्—	अनाचार
वदन्ति—	कहते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो ! मैंने मन की शद्धि के विनाश रूप अतिक्रम, शील की वाड के उल्लघन रूप व्यतिक्रम, इन्द्रियो के विषयो मे प्रवृत्ति करके अतिचार और उनमे अति आसक्त होकर अनाचार किया हैं। हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मेरे ये सव दोष दूर होवें।

हिन्दी पद्य

क्षती मन· शुद्धि-विधी अतिक्रमा,
व्यतिक्रमा शील-वृती विलघना।
अक्षार्थ - वृत्ति - व्यतिचार - संज्ञा,
कहे अनाचार अति प्रवृत्ति को ॥

अथवा

चित्त-शुद्धि का नाश, अतिक्रम है कहलाता,
शील-वाड का नाश, व्यतिक्रम है कहलाता।
इन्द्रिय-विपय-प्रवृत्ति कहाता अतीचार है,
इन्द्रिय-विषयाशक्ति कहाता अनाचार है ॥९॥

※

यदर्थ - मात्रा - पद - वाक्य - हीनं,
मया प्रमादाद् यदि किंचनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी,
सरस्वती केवल-बोध-लब्धिम् ॥१०॥

अन्वयार्थ

मया—	मेरे द्वारा
प्रमादात्—	प्रमाद से
यदि—	यदि
यत्—	जो
अर्थ-मात्रा-पद-वाक्य-हीनम्—	अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से हीन
किंचित्—	कुछ
उक्तम्—	कहा गया हो तो
मे—	मेरे
तत्—	उस अपराध को
क्षमित्वा—	क्षमा करके
सरस्वती, देवी—	सरस्वती देवी
केवलबोध-लब्धिम्—	केवलज्ञान रूपी बोध लब्धि को
विदधातु—	प्रदान करें ।

भावार्थ—मैंने प्रमाद से यदि अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से हीन कुछ कहा हो तो मेरा वह अपराध सरस्वती देवी क्षमा करें और मुझे केवल बोध रूप लब्धि को देवें ।

हिन्दी पद्य :

हे नाथ ! मात्रा-पद-हीन वाक्य,
प्रमाद से जो कुछ भी कहा हो ।
सरस्वती देवि ! क्षमा करें मुझे,
देवें तथा केवल बोधि-लक्ष्मी ॥१०॥

※

बोधि समाधि परिणाम-शुद्धि
स्वात्मोपलब्धि शिव-सौख्य-सिद्धि ।
चिन्तामणिं चिंतितवस्तु-दाने
त्वां वन्द्यमानस्य ममाऽस्तु देवि ! ॥११॥

अन्वयार्थ :

देवि—	हे सरस्वति देवि !
चिंतित-वस्तु-दाने—	मनोवाछित वस्तु के देने मे
चिन्तामणिम्—	चिन्तामणि रत्न के समान
त्वाम्—	आपको
वन्द्यमानस्य मम—	वन्दन करने वाले मुझे
बोधिः—	बोधि
समाधिः—	समाधि
परिणाम-शुद्धिः—	परिणामो की शुद्धि
स्वात्मोपलब्धिः—	अपने आत्मस्वरूप की प्राप्ति
(च) शिव-सौख्य-सिद्धि-	और मोक्षसुख की सिद्धि
अस्तु—	होवे ।

भावार्थ—हे सरस्वती देवि ! आप मनोवाञ्छित वस्तु को देने के लिए चिन्तामणि के समान हैं अतएव आपकी वन्दना करने वाले इस जन को बोधि, समाधि, परिणामो की शुद्धि अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि और मुक्ति के सुख की सिद्धि आपके प्रसाद से प्राप्त हो ।

हिन्दी पद्य :

चिन्तामणि ज्यो चित-चिन्त्य-दाता,
देवें सदा बोधि समाधि शुद्धि ।
स्वात्मोपलब्धी शिव-सौख्य सिद्धी
सरस्वती देवि, सदा मुझे दे ॥११॥

❋

य. स्मर्यते सर्व-मुनीन्द्र-वृन्दै',
य स्तूयते सर्वनराऽमरेन्द्रैं ।
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रै,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम् ।।१२।।

अन्वयार्थं

यः—	जो
सर्व-मुनीन्द्र-वृन्दै.—	सभी मुनिराजो के समूह द्वारा
स्मर्यते—	स्मरण किया जाता है
य'—	जो
सर्व-नरामरेन्द्रैं'—	सभी नरेन्द्रो और देवेन्द्रो से
स्तूयते—	स्तुति किया जाता है
यः—	जो
वेद-पुराण—	वेद पुराण और शास्त्रो के द्वारा
गीयते—	गाया जाता है
स.—	वह
देव-देव —	देवो का देव
मम —	मेरे
हृदये—	हृदय मे
आस्ताम्—	विराजमान रहे ।

भावार्थ—जिसे सर्व मुनिजन सदा स्मरण करते हैं, जिस का सर्व इन्द्र, नरेन्द्र और धरणेन्द्र स्तवन करते हैं और जिसका वेद, पुराण और शास्त्र गुण-गान करते हैं वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे सदा विराजमान रहे ।

हिन्दी पद्य :

योगीश ध्याते जिसको सदा ही,
नृपेन्द्र देवेन्द्र नमे जिसी को ।
गाते जिसे वेद पुराण शास्त्र,
वही जगन्नाथ वसे हिये मे ।।१२।।

※

यो दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभाव.,
समस्त - ससार - विकार - वाह्य ।
समाधि-गम्य परमात्म-सज्ञ ,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम् ॥१३॥

अन्वयार्थ :

यः—	जो
दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावः-	अनन्त दर्शन अनन्तज्ञान और अनन्त सुख रूप स्वभाव वाला है
(य) समस्त संसार विकार वाह्यः—	जो समार के समस्त विकारो से रहित है,
(य) समाधि-गम्य·—	जो समाधि से गम्य है
(यः) परमात्म संज्ञः—	और परमातम सज्ञा का धारक है
स., देव-देव —	वह देवो का देव
मम हृदये—	मेरे हृदय मे
आस्ताम्—	विराजमान रहे ।

भावार्थ—जो अनन्त दर्शन, ज्ञान और सुखरूप स्वभाव वाला है, जो ससार के समस्त विकारो से रहित है, जो समाधि के द्वारा ही अनुभवगम्य है और जिसे योगीजन परमात्मा कहते है वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे सदा विराजमान रहे ।

हिन्दी पद्य :

जो दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावी,
समस्त - ससार - विकार-हारी ।
समाधि से गम्य परात्म-सज्ञी,
वही जगन्नाथ वसे हिये मे ॥१३॥

※

निषूदते यो भव-दु ख-जालम्,
निरीक्षते यो जगदन्तरालम् ।
योऽन्तर्गतो योगि-निरीक्षणीय,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम् ॥१४॥

अन्वयार्थ :

यः—	जो
भव-दु.ख-जालम्—	ससार के दु ख-जाल को
निषूदते—	काटता है
यः—	जो
जगदन्तरालम्—	जगत् के अन्तराल (मध्य भाग) को
निरीक्षते—	देखता है
अन्तर्गत य'—	जो अन्त स्थित है
योगि-निरीक्षणीयः—	और योगिजनो के द्वारा अवलोकनीय है
स, देव-देवः—	वह देवो का देव
मम, हृदये—	मेरे हृदय मे
आस्ताम्—	विराजमान रहें ।

भावार्थ—जो ससार के दु ख जाल को काटता है, जो जगत के अन्तराल को देखता है और जो योगिजनो के द्वारा हृदय मे निरीक्षण करने के योग्य है वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे सदा विराजमान रहे ।

हिन्दी पद्य :

विध्वंसता जो भव-दु ख-जाल,
निरीक्षता जो जगदन्तराल ।
अन्त.स्थ जो योगि-निरीक्षणीय,
वही जगन्नाथ वसे हिये मे ॥१४॥

※

विमुक्ति-मार्ग-प्रतिपादको यो—
यो जन्म-मृत्यु-व्यसनाद् विमुक्त. ।
त्रिलोक-लोकी विकलोऽकलंक,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम् ॥१५॥

अन्वयार्थ

य —	जो
विमुक्ति-मार्ग-प्रतिपादक.-	मोक्ष मार्ग का प्रतिपादक हैं
य —	जो
जन्म-मृत्यु-व्यसनात्—	जन्म मरणादि दु खो से
विमुक्त —	रहित है
(य.) त्रिलोक-लोकी—	जो तीनो लोको का अवलोकन करता है
विकल —	शरीर-रहित है
अकलक —	कलक-रहित है
स, देव-देव —	वह देवो का देव
मम—	मेरे
हृदये —	हृदय मे
आस्ताम्—	विराजमान रहे ।

भावार्थ—जो मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है, जो जन्म, मरण आदि दु खो से रहित है, जो त्रिलोकदर्शी हैं, शरीर रहित और निष्कलक है वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे सदा विराजमान रहे ।

हिन्दी पद्य

जो मुक्ति का मार्ग-प्रकाशकारी
जो जन्म-मृत्यु-व्यमनादि-हारी ।
त्रिलोक-लोकी पर निष्कलक,
वही जगन्नाथ वसे हिये मे ॥१५॥

※

क्रोडीकृताऽशेष - शरीरि - वर्गा —
रागादयो यस्य न सन्ति दोषा ।
निरीन्द्रियो ज्ञान-मयोऽनपाय,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम् ।।१६।।

अन्वयार्थ

क्रोडीकृताऽशेष-शरीरि-वर्गा —	समस्त प्राणि वर्ग को व्याप्त करने वाले
रागादयः—	रागादिक
दोषा·—	दोष
यस्य—	जिसके
न, सन्ति—	नही है
स —	वह
निरीन्द्रिय.—	अतीन्द्रिय
ज्ञानमयः—	ज्ञानमयी
अनपाय —	अपाय-रहित
स —	वह
देव देव —	देवो का देव
मम, हृदये—	मेरे हृदय मे
आस्ताम्—	विराजमान रहे ।

भावार्थ—जिन रागादि दोषो ने समस्त प्राणिवर्ग को अपने अधीन कर रखा है, वे जिनके लेशमात्र भी नही हैं, जो अतीन्द्रिय ज्ञानमयी है और सर्व अपायो से रहित है वह देवाधिदेव हृदय मे सदा विराजमान रहे ।

हिन्दी पद्य .

स्वाधीन कीने सब जीवमात्र,
वे राग द्वेषादि रहे न जिसमे ।
अतीन्द्रिय ज्ञानमयी सदा जो,
वही जगन्नाथ वसे हिये मे ।।१६।।

※

यो व्यापको विश्व-जनीन-वृत्ति,
सिद्धो विबुद्धो धुत-कर्म-वन्ध ।
ध्यातो धुनीते सकल विकारम्,
स देव-देवो हृदये ममाऽऽस्ताम् ॥१७॥

अन्वयार्थ

य — जो
व्यापक — सर्व व्यापक है
विश्व-जनीन-वृत्ति — विश्व के कल्याण करने का स्वभाव वाला है
सिद्ध — सिद्ध है
विबुद्ध — ज्ञायक स्वभावी है
धुत-कर्म-वन्ध — कर्म बन्धनो का विध्वसक है
ध्यात — ध्यान मे चिन्तन किया गया, जो
सकलम्— समस्त
विकारम्— विकारी भावो को
धुनीते — नष्ट करता है
स, देव-देवः— वह देवो का देव
मम, हृदये— मेरे हृदय मे
आस्ताम्— विराजमान रहे ।

भावार्थ—जो विश्वकल्याण की वृत्ति वाला होने मे सर्व व्यापक है, सिद्ध है, प्रवुद्ध है और सर्व कर्म वन्धनो से रहित है तथा जिसका ध्यान करने से हृदय के सर्व विकार दूर हो जाते हैं । वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे सदा विराजमान रहे ।

हिन्दी पद्य

जो सर्वव्यापी निज ज्ञान द्वारा,
सदा सुखी बुद्ध विनष्टकर्मा ।
ध्याया विनाशे सबके विकार,
वही जगन्नाथ वसे हिये मे ॥१७॥

※

न स्पृश्यते कर्म-कलक-दोषै:,
यो ध्वान्त-सघैरिव तिग्म-रश्मि. ।
निरजन नित्यमनेकमेकम्,
त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ।।१८।।

अन्वयार्थ :

ध्वान्त.-सघै —	अन्धकार-समूह से
तिग्म-रश्मि., इव—	जैसे सूर्य स्पृष्ट नही होता है
य.—	उसी प्रकार जो
कर्म-कलंक दोषै·—	कर्म-कलक और रागादि दोपो से
न, स्पृश्यते—	स्पृष्ट नही होता है ।
निरजनम्—	निरजन
नित्यम्—	नित्य
अनेकम्—	अनेक और
एकम्—	एक स्वरूप
त—	उस
आप्तम्—	आप्त
देवम्—	देव की
(अहम्)—	मैं
शरणम्—	शरण को
प्रपद्ये—	प्राप्त होता हूँ ।

भावार्थ—जैसे अन्धकार समूह के द्वारा सूर्य का स्पर्श नही किया जाता उसी प्रकार ज्ञानावर्णादि कर्म रूप कलक और रागादि दोष जिसका स्पर्श भी नहीं कर सकते है, जो नित्य निरजन स्वरूप है और जो एक रूप हो करके भी अनेक रूप है मैं उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ ।

हिन्दी पद्य ·

स्पृष्ट होता न कलक-पंकसे,
जो, ध्वान्त-द्वारा नित सूर्य की ज्यो ।
निरजनी, एक अनेकरूप,
मैं प्राप्त होता शरणे उसी की ।।१८।।

❋

विभासते यत्र मरीचि-मालि—
न्यविद्यमानो भुवनावभासि ।
स्वात्म-स्थित बोधमयप्रकाश,
त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ।।१९।।

अन्वयार्थ

भुवनावभासि—	भुवन के प्रकाशक
मरीचिमालिनि	सूर्य के
यत्र—	जहाँ
अविद्यमाने—	अविद्यमान रहने पर भी
(यः) विभासते—	जो प्रकाशमान रहता है
स्वात्म-स्थितम्—	ऐसे अपने आत्म-स्वरूप मे स्थित
बोधमय-प्रकाशम्—	ज्ञानमयी प्रकाशवाले
आप्त त देवम्—	उस आप्तदेव की
शरणं, प्रपद्ये—	मैं शरण को प्राप्त होता हूँ ।

भावार्थ—भुवन के प्रकाशक जिस देव के विद्यमान रहते हुए सूर्य शोभा को नहीं पाता है, जो अपने आत्मा मे स्थित है और ज्ञानमयी प्रकाश वाला है मैं उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ ।

हिन्दी पद्य

जिनेन्द्र ! तू लौकिक सूर्य-हीन,
प्रकाश तो भी तिहुँ लोक तेरा ।
स्वात्मस्थ हो जो नित ज्ञान रूपी,
मैं प्राप्त होता शरणे उसी की ।।१९।।

※

न स्पृश्यते कर्म-कलक-दोषैः,
यो ध्वान्त-सघैरिव तिग्म-रश्मि. ।
निरजन नित्यमनेकमेकम्,
त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ।।१८।।

अन्वयार्थ .

ध्वान्त.-सघै.—	अन्धकार-समूह से
तिग्म-रश्मि., इव—	जैसे सूर्य स्पृष्ट नही होता है
य.—	उसी प्रकार जो
कर्म-कलक दोषै —	कर्म-कलक और रागादि दोषो से
न, स्पृश्यते—	स्पृष्ट नही होता है ।
निरजनम्—	निरजन
नित्यम्—	नित्य
अनेकम्—	अनेक और
एकम्—	एक स्वरूप
त—	उस
आप्तम्—	आप्त
देवम्—	देव की
(अहम्)—	मैं
शरणम्—	शरण को
प्रपद्ये—	प्राप्त होता हूँ ।

भावार्थ—जैसे अन्धकार समूह के द्वारा सूर्य का स्पर्श नही किया जाता उसी प्रकार ज्ञानावर्णादि कर्म रूप कलक और रागादि दोष जिसका स्पर्श भी नही कर सकते है, जो नित्य निरजन स्वरूप है और जो एक रूप हो करके भी अनेक रूप है मै उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ ।

हिन्दी पद्य :

स्पृष्ट होता न कलक-पंकसे,
जो, ध्वान्त-द्वारा नित सूर्य की ज्यो।
निरजनी, एक अनेकरूप,
मैं प्राप्त होता शरणें उसी की ॥१८॥

※

विभासते यत्र मरीचि-मालि—
न्यविद्यमानो भुवनावभासि।
स्वात्म-स्थित बोधमयप्रकाश,
त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ॥१९॥

अन्वयार्थ

भुवनावभासि—	भुवन के प्रकाशक
मरीचिमालिनि	सूर्य के
यत्र—	जहाँ
अविद्यमाने—	अविद्यमान रहने पर भी
(यः) विभासते—	जो प्रकाशमान रहता है
स्वात्म-स्थितम्—	ऐसे अपने आत्म-स्वरूप मे स्थित
बोधमय-प्रकाशम्—	ज्ञानमयी प्रकाशवाले
आप्तं तं देवम्—	उस आप्तदेव की
शरणं, प्रपद्ये—	मैं शरण को प्राप्त होता हूं।

भावार्थ—भुवन के प्रकाशक जिस देव के विद्यमान रहते हुए सूर्य शोभा को नही पाता है, जो अपने आत्मा मे स्थित है और ज्ञानमयी प्रकाश वाला है मैं उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूं।

हिन्दी पद्य

जिनेन्द्र! तू लौकिक सूर्य-हीन,
प्रकाश तो भी तिहुँ लोक तेरा।
स्वात्मस्थ हो जो नित ज्ञान रूपी,
मैं प्राप्त होता शरणे उसी की ॥१९॥

※

येन क्षता मन्मथ-मान-मूर्च्छा—
विषाद - निद्रा - भय-शोक-चिन्ता ।
क्षय्योऽनेलनेव तरु-प्रपंच—
स्त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ॥२१॥

अन्वयार्थ :

अनलेन—	अग्नि के द्वारा
तरु-प्रपंचः—	वृक्षो का समूह
क्षय्यः इव—	जैसे क्षय (भस्म) कर दिया जाता है
येन—	उसी प्रकार जिसके द्वारा
मन्मथ-मान-मूर्च्छा-विषाद-निद्रा-भय-शोक-चिन्ता—	काम, मान, मूर्च्छा, विषाद, निद्रा, भय, शोक, चिन्ता आदि समस्त दोष
क्षता—	क्षय कर दिये गये हैं
आप्तं तं देवम्—	उस आप्त देवकी, मैं
शरण प्रपद्ये—	शरण को प्राप्त होता हूं ।

भावार्थ—जिसप्रकार अग्नि के द्वारा वृक्षो का समूह क्षय को प्राप्त होता है उसी प्रकार जिसके द्वारा काम-विकार, मान, मूर्च्छा, विषाद, निद्रा, भय, शोक और सर्व प्रकार की चिन्ताएँ नष्ट कर दी गयी है मैं उसी आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूँ ।

हिन्दी पद्य

नाशे सभी काम-विकार मूर्च्छा,
विषाद निद्रा भय शोक चिन्ता ।
दावाग्नि ज्यो वृक्ष-समूह नाशे,
लेता सहारा उस देवका मैं ॥२१॥

※

न संस्तरोऽश्मा न तृण न मेदिनी,
विधानतो नो फलको विनिर्मित ।
यतो निरस्ताक्ष-कषाय-विद्विष,
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मत ॥२२॥

अन्वयार्थ

विधानत.—	विधान रूप से समाधि का साधन
न, सस्तरोऽश्मा—	न सस्तर (आसन) है, न पाषाण है,
न, तृणम्—	न तृण-पुज है
न, मेदिनी—	न पृथिवी है और
विनिर्मित.-फलक:—	न बनाया गया काष्ठ का फलक (चौकी पाटा) ही है ।
यत:—	क्योंकि
सुधीभि.—	बुद्धिमन्तो के द्वारा
निरस्ताऽक्ष-कषाय-	विषय-कषायरूपी
विद्विष'—	शत्रुओं से रहित है ।
सुनिर्मल:—	निर्मल
आत्मा, एव—	आत्मा ही
मत—	ध्यान का आसन माना गया है ।

भावार्थ—ध्यान का आसन न सस्तर है, न पाषाण है, न तृण है, न भूमि है और न काष्ठ फलक (चौकी-पाटा) है किन्तु जिसके अन्तर से विषय-कषाय रूप शत्रु दूर हो गये है उसी निर्मल आत्मा को ज्ञानी जनो ने ध्यान का आसन माना है ।

हिन्दी पद्य

माना नही आसन ध्यान का है,
धरा, कुशा, डाभ तृणादि को भी ।
हे नाथ नाशे विषयादि जिससे,
कहा वही सस्तर शुद्ध तूने ॥२२॥

※

न सस्तरो भद्र ! समाधि-साधनम्,
न लोक-पूजा न च सघ-मेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्म-रतो भवाऽनिशम्
विमुच्य सर्वामपि वाह्य-वासनाम् ॥२३॥

अन्वयार्थ :

भद्र !—	हे भद्र !
यतः—	क्योकि
न, संस्तरः—	न सस्तर (आसन)
न, लोक-पूजा—	न लोकपूजा, और
न च, सघ-मेलनम्—	न सघ-सम्मेलन
समाधि-साधनम्—	समाधि के साधन है
ततः—	इसलिए
सर्वामपि—	सर्व ही
वाह्य-वासनाम्—	वाहरी वामनाओ को
विमुच्य—	छोडकर
अनिशम्—	निरन्तर
अध्यात्मरत —	अध्यात्म मे निरत
भव—	रहो ।

भावार्थ—हे भद्र ! समाधि का साधन न सस्तर है, न लोकपूजा है और न सघसम्मेलन है इसलिए वाहरी सभी वासनाओ को छोडकर अपने अध्यात्म मे निरन्तर निरत रहो ।

हिन्दी पद्य .

न साथरा साधन है समाधि का,
न लोक-पूजा न च सघ-एकता ।
ससार की छोड कुवासनाएँ,
अध्यात्म मे लीन रहो सदात्मन् ॥२३॥

※

न सन्ति वाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेपा न कदाचनाऽहम् ।
इत्थं विनिश्चत्य, विमुच्य वाह्यं
स्वस्थः सदा त्व भव भद्र ! मुक्त्यै ॥२४॥

अन्वयार्थ :

केचन वाह्याः—	कोई वाहरी
अर्थाः—	पदार्थ
मम—	मेरे
न, सन्ति—	नही हैं,
तेपाम्—	उनका
अहम्—	मैं भी
न, कदाचन—	कभी नही
भवामि—	हूँ
इत्यम्—	इस प्रकार से
विनिश्चित्य—	निश्चय करके
वाह्यं विमुच्य—	वाह्य से सम्पर्क छोडकर
भद्र !—	हे भद्र आत्मन्
त्वम् सदा—	तुम सदा
स्वस्थः भव—	अपनी आत्मा मे स्थिर रहो ।

भावार्थ—कोई भी वाहरी पदार्थ मेरा नही है और न मैं कभी उनका हूँ ऐसा निश्चय कर हे भद्र पुरुप ! वस्तुओ को छोडकर तू मुक्ति प्राप्ति के लिए सदा अपने आत्मा मे स्थिर रह ।

हिन्दी पद्य :

वाह्यार्थ मेरे कुछ भी नही हैं,
मैं भी कभी भी उनका नही हूँ ।
यो चिन्तके वाह्य विचार छोडो,
मुक्त्यर्थ स्वात्मस्थित हो सदा ही ॥२४॥

※

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमान—
स्त्व दर्शन-ज्ञान-मयो विशुद्ध ।
एकाग्र-चित्त खलु यत्र तत्र,
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

अन्वयार्थ

आत्मानम्—	अपनी आत्मा को
आत्मनि—	अपने आप मे
अवलोक्यमानः—	अवलोकन करते हुए
त्वम्—	तुम
दर्शन ज्ञान-मयः—	अनन्त दर्शन-ज्ञानमय
विशुद्ध—	विशुद्ध
खलु—	निश्चय से हो,
यत्र—	जहाँ पर
एकाग्रचित्त—	एकाग्र चित्त हो
तत्र—	वही
स्थितोऽपि—	स्थित भी
साधु·—	साधु
समाधिम्—	समाधि को
लभते—	प्राप्त करता है ।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा मे अपने आपको अवलोकन कर तू दर्शन ज्ञानमयी और विशुद्ध स्वभाव वाला है इस प्रकार से एकाग्र चित्त होकर जहाँ कही भी साधुजन अवस्थित होता है वही वह समाधि को प्राप्त होता है ।

हिन्दी पद्य

तू आपमे आप समस्तदर्शी,
तू दर्शन-ज्ञान चरित्र-धारी ।
एकाग्र हो चित्त जहाँ कही भी,
पाता वही साधु, समाधि नाम ॥२५॥

※

एक: सदा शाश्वतिको ममाऽऽत्मा,
विनिर्मल साधिगम—स्वभाव ।
बहिर्भवा सत्यपरे समस्ता.,
न शास्वता: कर्म-भवा स्वकीया. ।।२६।।

अन्वयार्थ

मम—	मेरा
आत्मा—	आत्मा
सदा एक:—	सदा एक
शाश्वतिक:—	शाश्वत
विनिर्मल:—	निर्मल
साधिगम-स्वभाव—	अधिगम (ज्ञान) स्वभाव से युक्त है,
अपरे—	अन्य
समस्ता:—	समस्त
बहिर्भवा—	बाहिरी पदार्थ
कर्म-भवा.—	कर्म-जनित हैं
स्वकीया:—	वे अपने
शाश्वता:—	शाश्वत भाव
न सन्ति—	नही है ।

भावार्थ—मेरा आत्मा सदा एक और नित्यस्वरूप है । सर्व मलो से रहित और ज्ञान-स्वभावी है उसके सिवाय और जितने भी बाहरी पदार्थ और राग-द्वेषादि है वे सब कर्म जनित और अशाश्वत है ।

हिन्दी पद्य

आत्मा सदा है अविनाशि मेरा,
सर्वांग सिद्धान्त-स्वरूप ज्ञाता ।
हैं सर्व ही अर्थ बहि स्वरूप
विभाग हैं कर्म-स्वरूप-जन्य ।।२६।।

※

यस्याऽस्ति नैक्य वपुषाऽपि सार्द्धं,
तस्याऽस्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रै.।
पृथक्कृते चर्मणि रोम-कूपा,
कुतोहि तिष्ठन्ति शरीर-मध्ये ॥२७॥

अन्वयार्थ :

यस्य—	जिसका
वपुषा-अपि—	शरीर के भी
सार्द्धम्—	साथ
न ऐक्यम्—	ऐक्य नही है
तस्य—	उसका
पुत्र-कलत्र-मित्रैः—	पुत्र, स्त्री और मित्रो के साथ
किम् (ऐक्यम्) अस्ति—	ऐक्य कैसे सम्भव है।
चर्मणि—	चर्म के
पृथक् कृते—	पृथक् करने पर
शरीर-मध्ये—	शरीर के मध्य मे
रोम-कूपाः—	रोम-कूप
हि—	निश्चय से
कुतः—	कैसे
तिष्ठन्ति—	रहेगे ?

भावार्थ—जिसका शरीर के साथ भी एकत्व नही है उसका तो पुत्र, स्त्री और मित्रो के साथ एकत्व कैसे सम्भव है। चर्म के शरीर से पृथक् कर देने पर रोम कूप (छिद्र) शरीर मे कैसे रह सकते हैं ?

हिन्दी पद्य

शरीर से भी जिसका न ऐक्य है,
कहाँ कथा है फिर पुत्र-मित्र की।
पृथक् करो चर्म शरीर-पिंड से,
निराश्रयी रोम कहाँ रहेगे ॥२७॥

※

सयोगतो दु:खमनेक-भेद,
यतोऽश्नुते जन्म-वने शरीरी।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निवृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

अन्वयार्थ :

यतः—	जिस कारण
शरीरी—	प्राणी
जन्म-वने—	ससार रूपी वन मे
सयोगत.—	संयोग से
अनेकविधम्—	अनेक प्रकार के
दु.खम्—	दु ख को
अश्नुते—	पाता है
अत.—	इसलिए
आत्मनीनाम्—	अपनी कल्याणकारिणी
निवृ॑तिम्—	मुक्ति को
यियासुना—	प्राप्त करने की इच्छा वाले पुरुप को
असौ त्रिधा—	मन, वचन काय से वह सयोग
परिवर्जनीयः—	परित्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ—कर्म जनित इस शरीर के सयोग से यह प्राणी इस भव-कानन में अनेक प्रकार के दु खो को पाता है इसलिए अपनी मुक्ति को पाने के इच्छुक जनो को चाहिए कि वे मन, वचन, काय से शरीर का परित्याग करें।

हिन्दी पद्य :

संसार में दु ख सदा अनेको
पाता यही जीव शरीर-योग से।
जो चाहते निर्वृ॑ति सौख्यकारी,
तो ये जगज्जाल समस्त छोड़ो ॥२८॥

※

सर्वं निराकृत्य विकल्प-जालं,
ससार - कान्तार - निपात - हेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो,
निलीयसे त्वं परमात्म-तत्त्वे ॥२९॥

अन्वयार्थ :

सर्वम्—	सभी
विकल्प-जालम्	विकल्प जाल को
निराकृत्य—	निराकरण करके
संसार-कान्तार-निपात-	ससार रूपी वन मे पतन के
हेतुम् —	कारणभूत
विविक्तम्—	एकमात्र
आत्मानम्—	आत्मा को
अवेक्ष्यमाणः —	देखते हुए
त्वम्—	तुम
परमात्म-तत्त्वे—	परमात्म तत्त्व मे
निलीयसे—	लीन रहो ।

भावार्थ—ससार वन मे परिभ्रमण कराने वाले सर्व विकल्प जालो को दूर करके एकमात्र सबसे भिन्न अपनी आत्मा को देखते हुए हे आत्मन् ! तुम परमात्म तत्त्व मे लीन हो ।

हिन्दी पद्य :

ससार - कान्तार - निपात - वाले,
विकल्प दु ख-प्रद सर्व छोडो ।
समस्त से भिन्न लखो निजात्मा,
हो लीन आत्मन् ! परमात्म-तत्त्व मे ॥२९॥

※

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाऽशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥३०॥

अन्वयार्थ :

आत्मना—	अपने द्वारा
पुरा—	पहिले
यत् कर्म—	जो कर्म
स्वयम् कृतम्—	स्वयं किये गये है
तदीयम्—	उनका
शुभाऽशुभम् फलम्—	शुभ और अशुभ फल
स्फुटं—	निश्चय से
लभते—	प्राप्त होता है ।
यदि—	यदि
परेण दत्तम्—	दूसरे के द्वारा दिया गया
लभते—	सुख-दुःख प्राप्त होता है
तदा—	तब
स्वयं कृतम् कर्म—	स्वयं के किये गये कर्म
निरर्थकम्—	निरर्थक हो जावेंगे ।

भावार्थ—हे आत्मन् ! जिस जीव ने पूर्वकाल मे जो कर्म स्वयं उपार्जित किये है वह उनके शुभ और अशुभ फल पाता है । यदि कोई दूसरे के द्वारा दिये गये शुभ या अशुभ फल को प्राप्त होने लगे तब तो स्वयं कृत कर्म निरर्थक हो जायेंगे ।

हिन्दी पद्य :

स्वयं किये कर्म सुपूर्वकाल मे,
भला-बुरा वे फल नित्य देते ।
जो ईश्वर-प्रेरित कर्म भोगे,
स्वकीय तो कर्म निरर्थ होवे ॥३०॥

※

निजार्जित कर्म विहाय देहिनो,
न कोऽपि कस्याऽपि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्य-मानस ,
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥३१॥

अन्वयार्थ :

निजार्जितम्—	अपने उपार्जित
कर्म—	कर्म के
विहाय—	सिवाय
कोऽपि —	कोई भी अन्य पुरुष
कस्याऽपि देहिन —	किसी भी प्राणी को
किंचन —	कुछ भी
न ददाति—	नही देता है
पर'—	दूसरा
ददाति—	देता है
एवम्—	ऐसा
विचारयन्—	विचारता हुआ
आत्मन् —	हे आत्मन् !
इति—	इस प्रकार की
शेमुषीम् विमुच्य —	बुद्धि को छोडकर
अनन्य -मानसः—	एकाग्रचित्त हो ।

भावार्थ—अपने उपार्जित कर्म छोडकर कोई भी प्राणी किसी भी प्राणी को कुछ भी सुख या दु ख नही देता है ऐसा विचार करते हुए हे आत्मन् ! तू एकाग्रचित्त हो और दूसरा देता है इस बुद्धि को छोड ।

हिन्दी पद्य :

स्वकीय पूर्वार्जित कर्म छोडके,
कोई किसी को कुछ है न देता ।
द्वितीय दाता, यह भाव मिथ्या,
छोड़ो यही सर्व कुभाव सारे ॥३१॥

※

यै परमात्माऽमितगति-वन्द्य,
सर्व-विविक्तो भृशमनवद्य ।
शश्वदधीते मनसि लभते,
मुक्ति-निकेत विभव-वर ते ॥३२॥

अन्वयार्थ

यैः—	जिन पुरुषो ने
अमित-गति-वन्द्य —	अपरिमित ज्ञान वाले परमात्मा को नमस्कार किया, दूसरा अर्थ—अमित-गति द्वारा वन्दनीय परमात्मा
सर्व-विविक्तः—	जो सर्व कर्म विमुक्त है
भृशम् अनवद्यः—	अत्यन्त निर्दोप है
परमात्मा—	ऐसा परमात्मा
मनसि—	मन मे
शश्वत्—	निरन्तर
अधीते—	चिन्तन करते हैं
ते—	वे
विभव-वरम्—	परम वैभव वाले
मुक्ति-निकेतम्—	मुक्ति रूपी महल को
लभन्ते—	प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—जो परमात्मा अपरिमित ज्ञानियो के द्वारा अथवा अतिगमित (आचार्य) के द्वारा वन्दनीय हैं, सर्व पदार्थो से भिन्न है और पूर्ण निर्दोप है उसका जो निरन्तर मन मे चिन्तवन करते है वे पुरुप सर्वश्रेष्ठ वैभव वाले मोक्ष महल को प्राप्त होते हैं ।

हिन्दी पद्य

जो परमातम अमितगति पूजा,
सर्व विविक्त सुखी गत दोपा ।
नित्य सुध्याया मन मे जिसने,
विभवमयी पचम गति पाई ॥३२॥

※

इति द्वात्रिंशता वृत्तै.,
परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्य-गत-चेतस्को,
यात्यसौ पदमव्ययम् ।।३३।।

अन्वयार्थ

य —	जो
अनन्य-गत-चेतस्क —	एकाग्रचित्त होकर
इति-द्वात्रिंशता—	इन वत्तीस
वृत्तै—	पद्यो से
परमात्मानम्—	परमात्मा का
ईक्षते—	दर्शन करता है
असौ—	वह
अव्ययम्—	अविनाशी
पदम्—	शिव पद को
याति—	प्राप्त होता है

भावार्थ—इस प्रकार उक्त ३२ छन्दो से जो एकाग्रचित्त होकर परमात्मा का चिन्तन करता है वह अविनाशी शिव पद को प्राप्त होता है ।

हिन्दी पद्य

इम वत्तीस सुवृत्तो से जो,
एक चित्त परमात्म जपे ।
आत्मरूप को पाकर के वह,
मोक्ष-सौख्य को नियत लहे ।।३३।।

※※※

रत्नाकर-पंचविंशतिका

श्रेय. ! श्रिया मगल-केलि सद्म,
नरेन्द्र - देवेन्द्र नताङ्घ्रि - पद्म !
सर्वज्ञ ! सर्वातिशय-प्रधान !
चिर जय ज्ञान-कला-निधान ! ॥१॥

अन्वयार्थ

श्रेय श्रिया—	हे श्रेयस्कारी लक्ष्मी के
मगल केलिसद्म—	मागलिक क्रीडा के सदन !
नरेन्द्र देवेन्द्र—	नरेन्द्रो और देवेन्द्रो से
नताङ्घ्रिपद्म—	नमस्कृत चरण कमल वाले
सर्वज्ञ—	सर्वज्ञ !
सर्वातिशय-प्रधान —	सर्व अतिशयो मे प्रधान
ज्ञानकला-निधान—	ज्ञान रूप सूर्य की कलाओ के निधान
चिरम्—	(आप) चिरकाल तक
जय—	जयवन्त रहे ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप कल्याणरूपी लक्ष्मी की मागलिक क्रीडा करने के स्थान है, मनुष्यो के और देवो के स्वामी आपके चरणो मे आकर नमस्कार करते हैं, आप सर्व वस्तुओ के ज्ञाता हैं, सर्व अतिशयो के धारक हैं और ज्ञान-रूप सूर्य की सर्व कलाओ के भण्डार हैं, अत आपकी जय हो ।

हिन्दी पद्य

सिद्धिश्री की मगलक्रीडा के हो अनुपम धाम,
तेरे चरण कमल मे करते इन्द्र-नरेन्द्र प्रणाम ।
सचराचर के ज्ञाता भगवन् ! अतिशय सर्वप्रधान,
तेरी जय हो तेरी जय हो, केवल ज्ञान-निधान ॥१॥

※

जगत्त्रयाऽऽधार ! कृपाऽवतार,
दुर्वार - ससार - विकार - वैद्य !
श्री वीतराग ! त्वयि मुग्धभावात्,
विज्ञ ! प्रभो ! विज्ञपयामि किंचित् ॥२॥

अन्वयार्थ

जगत् त्रयाधार !—	हे तीन जगत् के आधार !
कृपावतार !—	हे दया के अवतार !
दुर्वार-ससार—	इस अपार ससार के
विकार वैद्य—	विकारो के चिकित्सक !
श्री वीतराग !—	श्री वीतराग !
विज्ञ !—	सर्वज्ञ !
प्रभो !—	प्रभो !
त्वयि—	आपके सम्मुख
मुग्धभावात्—	अपने निश्छल भाव से
किंचित्—	(मैं) कुछ
विज्ञपयामि—	निवेदन करता हूँ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप तीन लोक के आधार हैं, दया के अवतार हैं, ससार के असाध्य दुखो को दूर करने मे कुशल वैद्य हैं और राग-द्वेष से रहित है, ऐसा जान कर मैं अपने हृदय के भावो को निश्छल हृदय से आपके सम्मुख प्रकट करता हूँ ।

हिन्दी पद्य

तीन जगत के शरण-प्रदाता, अतुल कृपा, अवतार,
इस दुनियाँ के प्रवल विकारो के विनाश-करतार ।
यद्यपि ज्ञाता हो अशेष के, फिर भी मम अनुराग—
रहा कहलवा मुझसे किंचित् सुनिये देव विराग ॥२॥

※

किं बाल-लीला-कलितो न बाल',
पित्रो पुरो जल्पति निर्विकल्प. ।
तथा यथार्थं कथयामि नाथ !
निजाशय सानुशयस्तवाऽग्रे ॥३॥

अन्वयार्थ :

वाललीला कलितः—	बाल भाव की लीला से युक्त
वालः—	वालक
पित्रो —	माता-पिता के
पुर'—	आगे
निर्विकल्प' (सन्)—	निर्विकल्प होकर
किम्—	क्या
न—	नही
जल्पति ?—	कहता है ?
नाथ !	हे नाथ !
सानुशय.(अहम्)—	पश्चात्ताप-युक्त मैं
यथार्थम्—	यथार्थ
निजाशयम्—	अपने अभिप्राय को
तव —	आपके
अग्रे—	आगे
कथयामि—	कहता हूँ

भावार्थ—हे स्वामिन् ! जिस प्रकार एक वालक अपने माता-पिता के सामने अपने मन की सभी वातो को विना किसी लुकाव-दुराव के सरल भाव से कहता है, उसी प्रकार हे भगवन् ! आज मैं आपके सामने शुद्ध हृदय से जीवन की घटनाओ को और अपने दुष्कृतो को पश्चात्ताप के साथ कहता हूँ, सो सुनिये ।

हिन्दी पद्य :

बाल्यकाल की लीला वाला, बालक क्या न अनन्य,
अपने तात-मात के सन्मुख वकता है अविकल्प।
उसी भाँति मैं अपना सच्चा आशय अपने आप,
रखता हूँ तेरे समक्ष यह करके पश्चात्ताप ॥३॥

※

दत्त न दान, परि-शीलितं च—
न शालि शील, न तपोऽभितप्तम्।
शुभो न भावोऽप्यभवद् भवेऽस्मिन्,
विभो! मया भ्रान्तमहो मुधैव ॥४॥

अन्वयार्थ

विभो!—	हे प्रभो!
मया—	मैंने
न—	न
दानम्—	दान
दत्तम्—	दिया,
न—	न
शालि शीलम्—	उत्तम शील
परिशीलितम्—	पालन किया,
न—	न
तप.—	तप
अभितप्तम्—	तपा और
न—	न
(मम)—	(मेरा कभी)
शुभ.—	शुभ
भाव.—	भाव
अपि—	भी

अभवत्—	हुआ
अस्मिन्—	इस
भवे—	भव मे
अहो—	अहो मैं
मुधा-एव—	व्यर्थ ही
भ्रान्तम्—	परिभ्रमण करता रहा।

भावार्थ—हे भगवन्! धन होने पर भी मैंने न दान दिया, न शील धारण किया और न तपश्चरण ही किया, और तो क्या कभी शुभ भावना तक भी नही भायी। हे प्रभो! मैंने यह जन्म व्यर्थ ही गवा दिया है।

हिन्दी पद्य

प्रभो! न मैंने मगलकारी दिया कभी है दान,
पाला मैंने कभी न निर्मल प्रबल शील भगवान!
की न तपस्या, शुद्ध भावना भायी नही समर्थ,
इस भवमे हा! भ्रमण हो गया मेरा बिलकुल व्यर्थ ॥४॥

※

दग्धोऽग्निना क्रोधमयेन, दष्टो—
दुष्टेन लोभाऽऽख्य-महोरगेण।
ग्रस्तोऽभिमानाऽजगरेण माया—
जातेन-बद्धोऽस्मि, कथ भजे त्वाम् ॥५॥

अन्वयार्थ

(अहम्)—	मैं
क्रोधमयेन—	क्रोध रूपी
अग्निना—	अग्नि से
दग्ध—	जला
दुष्टेन—	दुष्ट
लोभाख्य महोरगेण—	लोभ रूपी महासर्प से
दष्ट—	डसा गया

अभिमानाऽजगरेण—	अभिमान रूपी अजगर से
ग्रस्त· —	निगला गया, और
माया-जालेन—	मायारूपी जाल से
बद्ध —	बाँधा गया
अस्मि—	हूँ। (अब)
कथम्—	कैसे
त्वाम्—	आपकी
भजे—	सेवा करूँ ?

भावार्थ— हे भगवन् ! क्रोधरूपी अग्नि ने जलाकर मुझे भस्म कर दिया है। लोभरूपी काले साँपने मुझे डस लिया है। मानरूपी अजगर ने मुझे निगल लिया है, और मायारूपी जाल मे तो मैं बु ी तरह फँसा हुआ हूँ। अब कैसे मैं आपकी सेवा-आराधना करूँ ? कुछ समझ मे नही आता। -

हिन्दी पद्य .

क्रोध-अग्नि की लपटो ने है, मुझे जलाया खूब,
लोभ-व्यालने निर्दयता से डसा, गया मैं ऊब।
अहकार के अजगर ने भी निगल लिया भगवान,
माया के भी फँसा जाल मे, कैसे करता ध्यान ।।५।।

※

कृतं मयाऽमुत्र हित न चेह,
लोकेऽपि लोकेश ! सुख न मेऽभूत्।
अस्माहशा केवलमेव जन्म,
जिनेश ! जज्ञे भव-पूरणाय ।।६।।

अन्वयार्थ ·

लोकेश !—	हे लोक के स्वामिन् !
मया —	मैंने
ऽमुत्र च इह—	परलोक और इस लोक मे
हितम्—	(अपना) हित

न कृतम्—	नही किया
लोकेऽपि—	इस लोक मे भी
मे—	मुझे कुछ
सुखम्—	सुख
न अभूत्—	नही हुआ ।
जिनेश !—	हे जिनेश्वर
अस्मादृशाम्—	हमारे जैसे लोगो का
जन्म—	जन्म
केवलम्—	केवल
भव-पूरणाय एव—	भव-वर्धन के ही लिये
जज्ञे—	हुआ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मैंने इस भव या पर भव मे कुछ भी पुण्य नही किया, जिससे मुझे इस ससार मे कुछ भी सुख नही मिला । ऐसा दुर्लभ नर-जन्म पाकर के भी मैं कुछ भी आत्म-हित नही कर सका । केवल ससार-वढाने के ही लिए मेरा जन्म हुआ, ऐसा मैं मानता हूँ ।

हिन्दी पद्य

इस लोक या परलोक मे कुछ भी न हित मैंने किया,
अतएव हे जिनदेव ! जग का भी न सुख मैंने लिया ।
मेरे सदृश सव प्राणियो का जन्म ही अकृतार्थ है,
या एक भव की पूर्ति होना नाथ ! इसका अर्थ है ॥६॥

※

मन्ये मनो यन्न मनोज्ञ-वृत्त !
त्वदास्य - पीयूप - मयूख - लाभात् ।
द्रुत महाऽऽनन्द-रस, कठोर—
यस्मादृशां देव ! तदश्मतोऽपि ॥७॥

अन्वयार्थ

मनोज्ञवृत्त !—	हे सुन्दर चरित्र-धारक भगवन् !
यद् मन· (मे)—	मेरा मन
त्वदास्य-पीयूष—	आपके मुख चन्द्र की अमृतमयी
मयूख-लाभात्—	किरणो के लाभ से
महानन्द-रसम्—	महान् आनन्दरूप रस का
न द्रुतम्—	पान नही किया
देव !—	हे देव !
मन्ये—	मैं ऐसा मानता हूँ कि
अस्मादृशाम्—	हमारे जैसे लोगो का
(मन.)—	हृदय
अश्मतोऽपि—	पत्थर से भी
कठोरम्—	कठोर है।

भावार्थ—हे नाथ ! सचमुच आपके मुख चन्द्र से अमृतमयी किरणें झर रही हैं, तो भी हे प्रभो ! मैं उनका पान करके आत्मीय महान् आनन्द रस का पान नही कर सका। ज्ञात होता है कि मेरा हृदय पाषाण से भी अधिक कठोर है।

हिन्दी पद्य ·

मुख-चन्द्र से तेरे प्रशम-पीयूप की किरणे बही,
फिर भी हृदय मे देव ! मेरे आर्द्रता आई नही।
जिनवर ! नही हा ! हो सका यह चित्त हर्ष-विभोर है,
ज्ञात होता है उपल से हृदय अधिक कठोर है ॥७॥

※

त्वत्त सु दुष्प्राप्यमिद मयाऽऽप्त,
रत्न-त्रयं भूरि-भव-भ्रमेण।
प्रमाद-निद्रा-वशतो गत तत्,
कस्याऽग्रतो नायक ! पूत्करोमि ॥८॥

अन्वयार्थ ·

नायक !—	हे स्वामिन् !
मया—	मैंने
भूरि—	बहुत
भव भ्रमेण—	भव-भ्रमण करते हुए
सुदुष्प्रापम्—	अत्यन्त दुष्प्राप्य
इद रत्नत्रयम्—	यह रत्न त्रय धन
त्वत्त·—	आपसे
आप्तम्—	प्राप्त किया।
तत्—	उसे मैंने
प्रमाद-निद्रा-वशतः—	प्रमाद और निद्रा के वश से
गतम्—	व्यर्थ गवा दिया
कस्य—	अव उसकी किसके
अग्रतः—	आगे
पूत्करोमि—	पुकार करूँ ?

भावार्थ—हे भगवन् ! कितने ही जन्म-जन्मान्तरों मे परिभ्रमण करते हुए आपके पास से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी रत्नत्रय धर्म की प्राप्ति हुई, किन्तु हे नाथ ! मैंने प्रमाद और निद्रा के अधीन होकर उस रत्नत्रय को यो ही खो दिया है। हे प्रभो ! अव मैं यह पुकार किसके सामने करूँ ?

· हिन्दी पद्य

नर नारक तिर्यंच भवो मे भ्रमण किया पर्याप्त,
दुर्लभ रत्नत्रय तुमसे तव कर पाया था प्राप्त।
किन्तु उसे निद्रा-प्रमाद मे गँवा दिया बेकार,
हे नायक ! अव किसके आगे जाकर करूँ पुकार ॥८॥

※

वैराग्य-रंग· पर-वञ्चनाय,
धर्मोपदेशो जन-रञ्जनाय ।
वादाय विद्याऽध्ययनं च मेऽभूत्,
कियद् ब्रुवे हास्य-कर स्वमीश ! ॥९॥

अन्वयार्थ

ईश !—	हे जगदीश !
मे—	मेरा
वैराग्य-रग:—	वैराग्य धारण
पर-वचनाय—	दूसरो को ठग ने के लिए हुआ,
धर्मोपदेश —	धर्म का उपदेश
जन-रजनाय—	लोगो के मनोरजन के लिए हुआ
च—	और
विद्याध्ययनम्—	विद्या का अध्ययन
वादाय—	वाद-विवाद के लिए
अभूत्—	हुआ ।
स्वम्—	इस प्रकार अपने
हास्य-करम्—	हसी करने वाले
कियत्—	कितने कार्यों को
ब्रुवे—	कहूँ ?

भावार्थ—हे भगवन् ! मैंने विरागी साधु का भेष धारण किया, पर आत्म-कल्याण के लिए नहीं, किन्तु दूसरो को ठगने के लिए किया । मैंने धर्म का उपदेश केवल लोगो के मनोरजन करने के लिए दिया और मैंने विद्या का अभ्यास भी दूसरो को वाद-विवाद मे हराने के लिए किया । इस प्रकार मैं अपनी हास्य कारक कितनी बातें कहूँ ?

हिन्दी पद्य

ओरो को ठगने को पहना वैरागी का वेश,
राजी करने अन्य जनो को किया धर्म-उपदेश ।
विद्या का अध्ययन किया तो बढा वाद का भूत,
कहूँ कहाँ तक अपनी प्रभुवर ! हास्यास्पद करतूत ॥९॥

※

परापवादेन मुख सदोष,
नेत्र परस्त्री-जन-वीक्षणेन।
चेत पराऽपाय-विचिन्तनेन,
कृत भविष्यामि कथ विभोऽहम् ॥१०॥

अन्वयार्थ

(मे) मुखम्—	मेरा मुख
परापवादेन—	दूसरो की निन्दा करने से
नेत्रम्—	नेत्र
पर स्त्रीजन वीक्षणेन—	परस्त्री जनो के अवलोकन से
चेत'—	और चित्त
परापाय विचिन्तनेन—	दूसरो का बुरा विचार करने से
सदोषम् (जातम्)—	सदोष है।
अहम्—	(अव) मैं
विभो !—	हे प्रभो !
कथम्—	कैसे
कृतम्—	कृतार्थ
भविष्यामि—	होऊँगा ?

भावार्थ—हे भगवन् ! दूसरो का अपवाद (वदनामी) करके मैंने अपना मुख सदोष किया है, दूसरो की स्त्रियो को वुरी दृष्टि से देखकर अपने नेत्र कलुषित किये है और पर-जनो का बुरा विचार कर अपने मन को दूषित किया है। हे नाथ ! ये सव पाप मेरे हृदय मे शल्य से चुभ रहे हैं। इनसे मेरा वेडा कैसे पार होगा ?

हिन्दी पद्य

पर-निन्दा कर मैंने अपना आनन किया सदोष,
पर-नारी लखने से लोचन हुए दोष के कोप।
मनसे सोचा है औरो का होवे नाश अपार,
हाय, हाय ! कैसे होगा, इस पापी का निस्तार ॥१०॥

※

विडम्बित यत् स्मर-घस्मरार्ति—
दशा-वशात् स्वं विषयान्धलेन ।
प्रकाशित तद् भवतो ह्रियैव,
सर्वज्ञ सर्व स्वयमेव वेत्ति ॥११॥

अन्वयार्थ :

विषयान्धलेन (मया)—	विपयान्ध होकर मैंने
स्मर-घस्मरार्त्ति—	कामदेव से पीडित
दशा वशात्—	दशा के वश से
यत् स्वम्—	जो स्वयम्
विडम्बितम्—	विडम्बना की है
तत्—	वह
ह्रियैव—	लज्जित होकर ही
भवत—	आपके सामने
प्रकाशितम्—	प्रकाशित की है ।
स्वर्वज्ञ (त्वम्)—	हे सर्वज्ञ देव ! आप
सर्वम्—	सब
स्वयमेव—	स्वय ही
वेत्सि—	जानते है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! विपयों मे अन्ध होकर काम-विकारो के वश से मैंने अनेक विडम्बनाएं की हैं उन्हे यद्यपि आप जानते हैं, फिर भी मैं लज्जित होता हुआ आपके सामने प्रकाशित कर रहा हूँ ।

हिन्दी पद्य :

कामदेव ने मुझ पर भगवन् ! भीषण किये प्रहार,
विपय-अन्ध होकर मैंने तव से ये जो आचार ।
हे सर्वज्ञ ! सर्वदर्शिन् ! वे सव हैं तुमको ज्ञात,
किन्तु लाज के वश होकर ही मैंने कह दी वात ॥११॥

※

परापवादेन मुखं सदोषं,
नेत्रं परस्त्री-जन-वीक्षणेन ।
चेतः पराऽपाय-विचिन्तनेन,
कृतं भविष्यामि कथं विभोऽहम् ॥१०॥

अन्वयार्थ

(मे) मुखम्—	मेरा मुख
परापवादेन—	दूसरो की निन्दा करने से
नेत्रम्—	नेत्र
पर स्त्रीजन वीक्षणेन—	परस्त्री जनो के अवलोकन से
चेतः—	और चित्त
परापाय विचिन्तनेन—	दूसरो का बुरा विचार करने से
सदोषम् (जातम्)—	सदोष है ।
अहम्—	(अब) मैं
विभो !—	हे प्रभो !
कथम्—	कैसे
कृतम्—	कृतार्थ
भविष्यामि—	होऊँगा ?

भावार्थ—हे भगवन् ! दूसरो का अपवाद (बदनामी) करके मैंने अपना मुख सदोष किया है, दूसरो की स्त्रियो को बुरी दृष्टि से देखकर अपने नेत्र कलुषित किये है और पर-जनो का बुरा विचार कर अपने मन को दूषित किया है। हे नाथ ! ये सब पाप मेरे हृदय मे शल्य से चुभ रहे हैं। इनसे मेरा बेडा कैसे पार होगा ?

हिन्दी पद्य

पर-निन्दा कर मैंने अपना आनन किया सदोष,
पर-नारी लखने से लोचन हुए दोष के कोष।
मनसे सोचा है औरो का होवे नाश अपार,
हाय, हाय ! कैसे होगा, इस पापी का निस्तार ॥१०॥

❋

विडम्बितं यत् स्मर-घस्मरार्ति—
दशा-वशात् स्व विषयान्धलेन।
प्रकाशित तद् भवतो ह्रियैव,
सर्वज्ञ सर्व स्वयमेव वेत्ति ।।११।।

अन्वयार्थ ·

विषयान्धलेन (मया)—	विषयान्ध होकर मैंने
स्मर-घस्मरार्त्ति—	कामदेव से पीड़ित
दशा वशात्—	दशा के वश से
यत् स्वम्—	जो स्वयम्
विडम्बितम्—	विडम्बना की है
तत्—	वह
ह्रियैव—	लज्जित होकर ही
भवत—	आपके सामने
प्रकाशितम्—	प्रकाशित की है।
स्वर्वज्ञ (त्वम्)—	हे सर्वज्ञ देव ! आप
सर्वम्—	सब
स्वयमेव—	स्वय ही
वेत्सि—	जानते हैं।

भावार्थ—हे भगवन् ! विषयो मे अन्ध होकर काम-विकारो के वश से मैंने अनेक विडम्बनाएं की हैं उन्हे यद्यपि आप जानते हैं, फिर भी मैं लज्जित होता हुआ आपके सामने प्रकाशित कर रहा हूं।

हिन्दी पद्य :

कामदेव ने मुझ पर भगवन् ! भीषण किये प्रहार,
विषय-अन्ध होकर मैंने तव से ये जो आचार।
हे सर्वज्ञ ! सर्वदर्शिन् ! वे सब है तुमको ज्ञात,
किन्तु लाज के वश होकर ही मैंने कह दी बात ।।११।।

※

ध्वस्तोऽन्य-मन्त्रै परमेष्टिमन्त्र',
कुशास्त्र - वाक्यैर्निहताऽऽगमोक्ति' ।
कतु वृथा कर्म कुदेव-सगा—
दवाछि ही नाथ ! मति-भ्रमो मे ॥१२॥

अन्वयार्थ '

(मया)—	मैंने
अन्य मन्त्रै'—	अन्य कुमन्त्रो से
परमेष्टि-मन्त्रः—	परमेष्ठि मन्त्र-नवकार मन्त्र
ध्वस्तः—	विध्वस्त किया,
कुशास्त्र-वाक्यै'—	कुशास्त्रो के वाक्यो से
आगमोक्ति—	जिनागम की उक्तियाँ
निहता—	विनष्ट की
कुदेव-सगात्—	और कुदेवो के सग से
वृथा-कर्म—	व्यर्थ के कार्य
कर्त्तुम्—	करने की
अवाछि—	वाछा की
नाथ !—	हे नाथ ! ऐसा
मे—	मेरा

ही मति-भ्रम' (जात')–मति भ्रम हुआ ।

भावार्थ—हे भगवन् ! अनादि सिद्ध नवकार मन्त्र के प्राप्त होने पर भी मैंने मारण-उच्चाटन आदि कुमन्त्रो मे फँस कर उसका ध्वस किया। और अन्य कुशास्त्रो को मानकर सच्चे जिनागम के महत्त्व को घटाया तथा आप जैसे वीतरागी निर्दोष देव के मिलने पर भी मैंने अन्य रागी-द्वेषी कुदेवो की सेवा-दु ख भक्ति की । हाय-हाय ! मेरी बुद्धि मे ऐसा विभ्रम हो गया, इसका मुझे बहुत दु ख है और मैं धिक्कार का पात्र हूँ ।

हिन्दी पद्य

मिथ्या मन्त्रो-तन्त्रो मे फँस, नही जपा नवकार,
मिथ्याश्रुत को शिरोधार्य कर खोया आगमसार।
मिथ्या कर्म किये है मैंने कर कुदेव का साथ,
यह मेरी मिथ्या मति का ही है विपाक हे नाथ ॥१२॥

※

विमुच्य दृग्-लक्ष्य-गत भवन्त,
ध्याता मया मूढ-धिया हृदन्त ।
कटाक्ष - वक्षोज - गभीरनाभी—
कटी-तटीया, सुदृशा विलासा ॥१३॥

अन्वयार्थ

दृग्-लक्ष्य-गतम्— दृष्टिगोचर हुए
भवन्तम्— आपको
विमुच्य— छ डकर
मूढ-धिया— मूढबुद्धि
मया— मैंने
हृदन्त — हृदय के भीतर
सुदृशाम्— मृगनयनी स्त्रियो के नेत्र
कटाक्ष— कटाक्ष
वक्षोज— स्तन
गभीर नाभी— गहरी नाभि और
कटी-तटीया— पतली कमर को
विलासा— उनके हाव-भाव विलासो को
ध्याता— ध्याया ।

भावार्थ—हे भगवन् ! आप जैसे सुदेव के दृष्टिगत होने पर भी मैंने काम के वश होकर सुन्दर नेत्रो वाली स्त्रियो के तिरछे कटाक्षो को, कुम्भ समान स्तनो को, और पतली कमर को देख-देखकर नित्य कामदेव की ही आराधना की । हे प्रभो ! मुझ पापी को धिक्कार है ।

हिन्दी पद्य

आप दृगो के सन्मुख आये, तो भी त्यागे देव,
किन्तु मूढमति होकर मैंने हा ! देखे स्वयमेव।
मृगनैनी के पीन पयोधर, तथा नाभि गम्भीर,
तिरछे नैन, कमर पतली-सी, हास विलास अधीर ॥१३॥

※

लोलेक्षणा - वक्त्र - निरीक्षणेन,
यो मानसे राग-लवो विलग्न ।
न शुद्ध-सिद्धान्त-पयोधि-मध्ये,
धौतोऽप्यगात्, तारक ! कारण किम् ॥१४॥

अन्वयार्थ :

(मम) मानसे—	मेरे मन मे
लोलेक्षणा—	चचल नेत्रो वाली स्त्रियो के
वक्त्र-निरीक्षणेन—	मुखो को देखने से
य. राग-लव'—	जो राग-भाव
विलग्न —	सलग्न हो गया है
(स) शुद्ध सिद्धान्त-	वह शुद्ध सिद्धान्त
पयोधि-मध्ये—	सागर के मध्य मे
अगात्-अपि—	जाने पर भी
न धौत —	नही धुल सका
तारक—	हे तरण-तारणहार
किं कारणं (तत्र)—	इसमे क्या कारण है ?

भावार्थ—हे भगवन् ! सुन्दर एव चचल मृगनयनी स्त्रियो के मुखो को देखकर मेरे मन मे जो उनके राग भाव का अश लग गया है, उसे मैंने जैन-सिद्धान्त रूपी सागर के मध्य मे डुबकी लगाकर धोने का प्रयत्न किया, पर वह नही धुल सका। इसका क्या कारण है, हे तारक जिनेश्वर ! कोई उपाय उसके धोने का बताइये।

हिन्दी पद्य

चपल लोचनाओ के मुख-अवलोकन से सर्वेश ।
मानस-पट पर अंकित है जो राग भाव लव-लेश ।
विमल शास्त्र-सागर के जल से धोया उसे पछार,
किन्तु न छूट सका है कहिये क्या कारण अविकार ॥१४॥

❊

अंग न चगं न गुणो गुणानाम्,
न निर्मल कोऽपि कला-विलास ।
स्फुटत्प्रभा न प्रभुता च काऽपि,
तथाऽप्यहंकार - कदर्थितोऽहम् ॥१५॥

अन्वयार्थ :

(मम) अंगम्—	मेरा शरीर
न चगम्—	सुन्दर एव स्वस्थ नही है,
(मयि) गुणानाम्—	मुझमे गुणो का
गणो न—	समूह भी नही है
कोऽपि (क अपि)—	और कोई भी
निर्मल.—	निर्मल-निर्दोष
कला-विलास. न—	कला का विज्ञान ही है,
च—	तथा
का अपि—	कोई
स्फुरत्प्रभाव—	स्फुरायमान प्रभावशाली
प्रभुता न—	प्रभुता भी नही है,
तथापि—	तो भी
अहम्—	मैं
अहंकार—	अहकार मे
कर्दायित —	उन्मत्त हो रहा हू ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं सुन्दर और बलिष्ट नही हूँ और न मुझमे कोई गुण ही है, मुझमे किसी प्रकार का बुद्धि-वैभव भी नही है और न कोई प्रतिभा या प्रभुता ही है। फिर भी मैं अहकार से फूल रहा हूँ।

हिन्दी पद्य

देह नही है सुन्दर मेरी, नही सुगुण-आगार,
निर्मल कला नही है मुझमे, कान्ति न किसी प्रकार।
वैभव का है कहाँ ठिकाना, हे जिनेन्द्र ! भरपूर,
फिर भी हा ! हो रहा सदा मैं प्रबल गर्व से चूर ॥१५॥

※

आयुर्गलत्याशु न पाप-बुद्धि,
गत वयो नो विषयाऽभिलाष।
यत्नश्च भैषज्य-विधौ न धर्मे,
स्वामिन् ! महा-मोह-विडम्बना मे ॥१६॥

अन्वयार्थ :

आयु—	मेरी आयु
आशु—	शीघ्रता से
गलति—	गल रही है
(परन्तु) न पापबुद्धिः—	परन्तु पाप बुद्धि नही गल रही है।
वय.—	अवस्था
गतम्—	बीत रही है
(परन्तु)विषयाऽभिलाष. (न)—	किन्तु विषयो की अभिलाषा नही गई है।
भैषज्यविधौ—	औषधि-सेवन मे
(मया) यत्नः (कृतः)—	यत्न करता हूँ
(परन्तु) न धर्मे—	परन्तु धर्म-सेवन मे यत्न नही करता
स्वामिन् !—	हे स्वामिन् !
(इयम्) मे—	मेरी यह
मोह विडम्बना—	बडी मोह-विडम्बना है।

भावार्थ— मेरी आयु प्रतिक्षण गल-गलकर कम हो रही है, पर पाप-बुद्धि नही घट रही है। मेरी अवस्था बुढापे से जर्जरित हो रही है, परन्तु विषयो के सेवन की इच्छा बिल्कुल कम नही हो रही है। मैं जवान होने के लिए नित्य नयी-नयी औषधियो के सेवन करने के प्रयत्न मे लगा रहता हूँ, परन्तु धर्मसेवन का विचार भी मन मे नही आता है। हे भगवन्! यह सब महामोह की विडम्बना ही है।

हिन्दी पद्य

जीवन बीता किन्तु हुआ है नही कुमति का नाश,
आयु गई, पर गई न स्वामिन्! विषयो की अभिलाष।
धर्माराधन त्याग किया है औषध का उपचार,
हाय-हाय! यह प्रबल मोह है कैसा घोर अपार ॥१६॥

※

नाऽऽत्मा, न पुण्य न भवो न पापम्,
मया विटानां - कटुगीरपीयम्।
अधारि कर्णे, त्वयि केवलाऽर्के,
परिस्फुटे सत्यपि देव! धिग् माम् ॥१७॥

अन्वयार्थ :

त्वयि—	आप जैसे
केवलार्के—	केवलज्ञानरूप सूर्य के
परिस्फुटे—	प्रकाशमान
सत्यपि (सति-अपि)—	होने पर भी
मया—	मैंने
न आत्मा—	न आत्मा है
न पुण्यम्—	न पुण्य है
न भव—	न ससार है
न पापम्—	न पाप है
इयम्—	ऐसी

विटानाम्—	धूर्तों और नास्तिकों की
कटुगीः—	खोटी वाणी
अपि—	भी
कर्णे—	अपने कानो मे
अधारि—	धारण की
माम्—	मुझे
धिक्—	धिक्कार है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! चेतन-जड, पुण्य पाप और लोक-परलोक आदि सब अनादि निधन और स्वयसिद्ध है, ऐसी आपकी दिव्य देशना होते हुए भी इनके विरुद्ध धूर्तों और नास्तिको की बातो को बडे ध्यान से सुना और उन्हे सत्य माना । आप जैसे प्रकाशमान सूर्य के होते हुए और पुण्य-पाप, लोक-परलोक का स्वय अनुभव करते हुए भी मैंने इन सबका अभाव स्वीकार किया, मुझे धिक्कार है ।

हिन्दी पद्य :

आत्मा का अस्तित्व नही है, नही पुण्य का काम,
लोक और परलोक नही है, नही पाप का नाम ।
प्रभो ! आपका चमक रहा था केवलज्ञानालोक,
फिर भी धूर्त जनो की वाणी यह मानी, हा ! शोक ॥१७॥

※

न देव-पूजा न च पात्र-पूजा,
न श्राद्ध-धर्मश्च न साधु-धर्म ।
लब्ध्वाऽपि मानुष्यमिद समस्तं,
कृतं मयाऽरण्य-विलाप-तुल्यम् ॥१८॥

अन्वयार्थ

न देव-पूजा (कृता)—	मैंने न देव-पूजा की
न पात्र-पूजा (कृता)—	न कभी पात्रो की ही भक्ति की
न श्राद्ध-धर्मः (स्वीकृतः)-	न मैंने श्रावक धर्म ही पाला

न साधु-धर्मः—	और न साधु धर्म ही धारण किया ।
इदम्—	यह
मानुष्यम् (जन्म)—	मनुष्य जन्म
लब्ध्वा अपि—	पाकर के भी
मया—	मैंने
समस्तम्—	समस्त कार्य
अरण्य-विलाप-तुल्यम्—	अरण्य रोदन के समान ही
कृतम्—	किये है ।

भावार्थ—हे भगवन् ! इस जन्म मे मनुष्य जन्म को पाकर के भी न कभी आप जैसे वीतरागी देवो की पूजा ही की, न सुपात्रो का आदर-सत्कार करके उन्हें दान ही दिया, न मैंने श्रावक धर्म का पालन किया और न साधु धर्म की ही आराधना की । हे नाथ ! जैसे कोई वन मे रोवे, तो उसका रोना कौन सुनता है वह व्यर्थ ही जाता है उसी प्रकार मैंने सभी निरर्थक कार्य करके अपने जीवन को व्यर्थ गँवा दिया है ।

हिन्दी पद्य :

जिनवर की पूजा न कभी की, नहिं सुपात्र-सत्कार,
श्रावक का, या सयत का ही किया न धर्माचार ।
दुर्लभ मानव भव भी पाया अतिशय पुण्य प्रताप,
किन्तु गँवाया उसे वृथा ही मानो वन्य-विलाप ॥१८॥

※

चक्रे मयाऽसत्स्वपि काम-धेनु—
कल्प-द्रु-चिन्तामणिषु स्पृहार्ति ।
न जैन-धर्मे स्फुट-शर्मदेऽपि,
जिनेश ! मे पश्य विमूढ-भावम् ॥१९॥

अन्वयार्थ :

मया—	मैंने
काम-धेनु—	कामधेनु

कल्पद्रु—	कल्पवृक्ष और
चिन्तामणिषु—	चिन्तामणि के
असत्सु अपि—	नही होने पर भी (उनके पाने की)
स्पृहार्तिः—	इनकी इच्छा
चक्रे—	की, और
स्फुट-शर्मदेऽपि—	प्रकट ही मनोरथ को पूर्ण करने वाले
जैनधर्म—	जैनधर्म को प्राप्त करने की
न (चक्रे)—	कभी इच्छा नही की
जिनेश !—	हे जिनेश ! (आप)
मे—	मेरी
विमूढ-भावम्—	मूर्खता को
पश्य—	देखें।

भावार्थ—ससार मे जिनका कही अस्तित्व नही, केवल नाम ही नाम सुना जाता है, ऐसे कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न इत्यादि असत् पदार्थों के पाने की सदा इच्छा करता रहा। किन्तु हे नाथ ! ससार मे सच्चे सुख को देने वाले इस पवित्र जैनधर्म को पाने का कभी विचार तक भी नही किया। यह मेरी कितनी अज्ञानता है।

हिन्दी पद्य :

जो हैं असत् न जिनका होता हमे कभी प्रत्यक्ष,
वे ही चाहे चिन्तामणि अरु कामधेनु सुरवृक्ष।
हे जिनेश ! यह जैनधर्म है सुखदाता निर्बाध,
उसे न चाहा देव ! देखिये कैसा मौढ्य अगाध ॥१९॥

※

सद्भोग-लीला, न च रोग-कीला,
धनागमो, नो निधनाऽगमश्च।
दारा न कारा नरकस्य चित्ते,
व्यचिन्ति नित्य मयकाऽधमेन ॥२०॥

अन्वयार्थं .

मयका (मया)—	मुझ
अधमेन—	अधम ने
नित्यम्—	नित्य ही
चित्ते—	चित्त मे
सद्भोगलीला—	भोग-लीला का तो विचार किया
न च रोगकीला—	पर ये भोग रोगो के घर हैं, यह विचार कभी नही किया ।
धनागम.—	धन-उपार्जन का तो विचार किया
न च निधनागम —	पर मृत्यु के आने का विचार नही किया,
दारा —	स्त्रियो के ससर्ग का विचार तो किया
न—	परन्तु ये
नरकस्य—	नरक की
काराः—	कारागृह है ऐसा
न व्यचिन्ति—	विचार नही किया ।

भावार्थ—हे भगवन् ! मैंने अपने मन मे भोग-विलास का ही विचार किया, किन्तु ये भोग रोगो के कारण है ऐसा विचार कभी नही किया । मैंने धन कमाने का निरन्तर विचार किया, किन्तु मौत के आने का कभी विचार नहीं किया । स्त्रियो के रूप रग का तो विचार किया, किन्तु ये नरक के कारा-गृह की कारण हैं, इसका मुझ मूर्ख ने कभी लेशमात्र भी विचार नही किया और मधुविन्दु की आशा मे सब कुछ भूल गया ।

हिन्दी पद्य

चिन्तन किया सदा भोगो का, कभी न सोचे रोग,
हो धन-अर्जन मे निमग्न, नहिं लखा मृत्यु-सयोग ।
कामिनियो की रही कामना, कुत्सित सदा विचार,
नही अधम को दिखा, नरक का भीषण कारागार ॥२०॥

※

स्थित न साधोर्हृदि साधु-वृत्तात्,
परोपकारान्न यशोऽर्जित च।
कृत न तीर्थोद्धरणादि-कृत्यं
मया मुधा हारितमेव जन्म ॥२१॥

अन्वयार्थ .

साधोः—	साधुजनो के
हृदि—	हृदय मे
साधु-वृत्तात्—	उत्तम आचरण करके
न स्थितम्—	स्थान प्राप्त नही किया।
परोपकारात् —	परोपकार करके
यशः—	यश
न अर्जितम्—	उपार्जन नही किया।
च—	और
तीर्थोद्धरणादि-कृत्यम्—	तीर्थ का उद्धार आदि कार्य भी
न कृतम्—	नही किये। इस प्रकार
मया—	मैंने
जन्म—	जन्म
मुधा-एव—	व्यर्थ ही
हारितम्—	हार दिया।

भावार्थ—हे भगवन्! बुद्धि होते हुए भी मैंने अपने सद्-आचरण से सज्जन-सन्तजनो के हृदय मे स्थान प्राप्त नही किया, परोपकार करके यश भी नहीं उपार्जन किया। धर्म-तीर्थ का उद्धार करके पुण्य का सचय भी नही किया। हाय-हाय! मैंने अपना जन्म यो ही गँवा दिया है।

हिन्दी पद्य :

सदाचार से सुजनो के मन मे नही हुआ आसीन,
परोपकार कर यशोराशि भी पाई नही प्रवीन।
तीर्थोद्धार आदि कृत्यो को किया नही लवलेश,
हाय! अमूल्य मनुज-जीवन यह निष्फल गया जिनेश ॥२१॥

※

वैराग्य-रगो न गुरूदितेषु,
न दुर्जनाना वचनेषु शान्ति. ।
नाऽध्यात्म-लेशो मम कोऽपि देव,
तार्य कथंकारमय भवाब्धि ॥२२॥

अन्वयार्थं

गुरूदितेषु—	गुरु जनो के वचन सुनने पर भी
न वैराग्य-रंग —	मुझे वैराग्य का रग नही चढा,
दुर्जनानाम्—	दुर्जनो के
वचनेषु—	वचनो मे भी
न शान्ति.—	शान्ति नही मिली ।
मम कोऽपि—	मेरे भीतर
न अध्यात्म-लेश —	अध्यात्म का लेश भी नही आया
देव !—	हे देव !
अयम्—	यह
भवाब्धि—	भव-सागर फिर
कथकारम्—	किस प्रकार से
तार्यः—	पार कर सकूंगा ?

भावार्थ—हे भगवन् ! गुरुजनो की वाणी सुनने पर भी मुझ पर वैराग्य का कुछ भी रग नही चढा तो फिर दुर्जनो के वाक्यो से तो शान्ति प्राप्त ही कैसे होती ? मुझे अध्यात्म का लेश भी आज तक प्राप्त नही हुआ ? अब हे स्वामिन् ! आप ही बताइये कि यह ससार-सागर किस प्रकार से पार किया जा सकेगा ? इस विचार से मैं अति चिन्तित हो रहा हूँ । कोई उपाय बताइये ?

हिन्दी पद्य .

सद्गुरु की सुन्दर शिक्षा से भी न हुआ वैराग,
दुर्जन के कटु-भाषण से ही दिल मे जलती आग ।
आध्यात्मिकता जरा न आई मुझमे किसी प्रकार,
देव-देव ! कैसे पाऊँगा भव-सागर का पार ॥२२॥

※

पूर्वेभवेऽकारि मया न पुण्य—
मागामि-जन्मन्यपि नो करिष्ये।
यदीदृशोऽहं मम तेन नष्टा,
भूतोद्भवद्भावि - भवत्रयीश ॥२३॥

अन्वयार्थ

मया—	मैंने
पूर्वे—	पूर्व
भवे—	भव मे
पुण्यम्—	पुण्य
न, अकारि—	नही किया और
आगामि-जन्मनि अपि—	आगामी जन्म मे भी
नो करिष्ये—	नही कर सकूंगा
यदि—	यदि
ईदृशः अहम्—	ऐसा मैं हूं तो
ईश—	हे ईश!
तेन—	उससे
मम—	मेरे
भूतोद्भवद्-भावि-	भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनो
भव-त्रयी—	ही भव
नष्टा—	नष्ट हो गये।

भावार्थ—हे प्रभो! पूर्व जन्म मे मैंने कुछ भी पुण्य का उपार्जन नही किया और वर्तमान मे मेरी जैसी प्रवृत्ति है उसके अनुसार अगले जन्म के लिए भी मैं कुछ पुण्य-सचय नही कर पाऊँगा। वर्तमान जन्म तो नाना सकल्प-विकल्पो मे बीत ही रहा है, इस प्रकार हे जगदीश! मेरे तीनो ही भव नष्ट हो गये। अब मैं क्या करूँ? कुछ समझ नही पड़ता।

हिन्दी पद्य

पुण्य-हीन बीता है मेरा, पूर्व जन्म भगवान,
यह भव भी यो बीत रहा है प्रवल पाप की खान।
फिर आगामी भव का कैसे होगा देव ! सुधार,
अहो कष्ट है ! तीनो ही भव गँवा दिये बेकार ॥२३॥

※

किं वा मुधाऽह बहुधा सुधा-भुक्—
पूज्य ! त्वदग्रे चरित स्वकीयम् ।
जल्पामि यस्मात् त्रि-जगत्स्वरूप—
निरूपकस्त्व कियदेतदत्र ॥२४॥

अन्वयार्थ .

सुधाभुक्-पूज्य—	हे देवो से पूज्य भगवन् !
किं वा—	अथवा क्या
अहम्—	मैं
बहुधा-मुधा—	अनेक प्रकार से व्यर्थ ही
त्वदग्रे—	आपके आगे
स्वकीयम्—	अपना
चरितम्—	चरित
जल्पामि—	कहूँ ?
यस्मात्—	क्योकि
त्वम्—	आप तो
त्रि-जगत्स्वरूप—	तीन जगत के स्वरूप के
निरूपक —	जानने वाले है
अत्र—	इस विषय मे
एतत्-कियत्—	मेरा यह कथन कितना क्या है ?

भावार्थ—हे देवेन्द्र-पूजित जिनेन्द्र ! अपना कितना पापमय चरित आपके आगे कहूँ ? आप तो त्रिलोक-त्रिकाल के ज्ञाता हैं, अत मेरे सब चरित को

जानते ही हैं। अत अत्र आगे और कुछ कहना व्यर्थ है। अव तो आप मेरे उद्धार का उपाय वताइये।

हिन्दी पद्य :

त्रिदिव नाथ से पूजित भगवन् ! जिनवर ! परम पवित्र,
कहूँ आपके सन्मुख क्या मैं अपना पाप-चरित्र।
सकल ज्ञेय के ज्ञायक प्रभु ! केवलज्ञान-निधान,
तो फिर मेरे पाप-चरित को क्यो न सको पहिचान ॥२४॥

※

दीनोद्धार-धुरन्धरस्त्वदपरो नास्ते मदन्य कृपा—
पात्र नाऽत्र जने जिनेश्वर ! तथाऽप्येता न याचे श्रियम्।
किन्त्वर्हन्निदमेव केवलमहो सद्बोधि-रत्नं शिव,
श्रीरत्नाकर ! मगलैकनिलय ! श्रेयस्कर प्रार्थये ॥२५॥

अन्वयार्थ .

जिनेश्वर —	हे जिनेश्वर !
अत्र (जगति)—	इस जगत मे
त्वदपर —	आपके सिवाय
दीनोद्धार-धुरधर —	दीनो का उद्धार करने मे समर्थ
न आस्ते—	(अन्य कोई) नही है और
मदन्यः—	मेरे सिवाय
कृपा-पात्रम् —	अन्य कोई कृपा-पात्र भी
न—	नही है
तथापि—	तो भी मैं
एताम्—	इस सासारिक
श्रियम्—	लक्ष्मी को
न, याचे—	नही माँगता हूँ, किन्तु
अर्हन्—	हे अरहन्त देव !
श्री रत्नाकरः—	हे श्री रत्नाकर !

मगल-एक-निलयः—	हे मगल के एकमात्र आगार !
अहो—	अहो मैं
केवलम्—	केवल
इदम्-एव—	इस ही
श्रेयस्करम्—	कल्याण-कारक
शिवम्—	शिव स्वरूप
सद्बोधि-रत्नम्—	सद्वोधिरूप रत्न को
प्रार्थये—	माँगता हूँ।

भावार्थ—हे भगवन् ! दीन जनो का उद्धार करने वाले एकमात्र आप ही हैं, आपके सिवाय और कोई तारने वाला नही है तथा मुझ जैसा अन्य कोई दया का पात्र भी नही है। हे जिनेश्वर ! मैं आपसे लौकिक सम्पत्ति की याचना नही करता हूँ, किन्तु मोक्ष का देने वाला कल्याणकामी सद्वोधिरत्न माँगता हूँ, वह मुझे दीजिए।

हिन्दी पद्य :

दीनोद्धारक एक तुम्ही हो, जिनवर देव अनन्य,
मुझसा दीन कहाँ पाओगे, तरने लायक अन्य।
नही कामना लक्ष्मी की है, वोधि मिले भगवान,
हे मगलमय ! यह श्रेयस्कर शिवकर करो प्रदान ॥२५॥

※ ※ ※

श्रीपार्श्वनाथस्तव

हे पार्श्वनाथ, परमेश, महोपदेशी,
हे अश्वसेनसुत, श्यामलशालिदेह,
वामाङ्गजात, करुणाकर, लोकवन्धो,
तेरे सदाचरण ही मम आसरा है ॥१॥
ससार का तरण तारण तू कहाया,
तेरा किये स्मरण हर्ष न कौन पाया,
पाया सुभक्ति तव जो वह मोक्ष पाया,
तेरे सदाचरण ही मम आसरा है ॥२॥
तूने सहे कमठ के उपसर्ग भारी,
तूने अनन्त जग के उपकार कीन्हे,
आदर्श, भव्यजन का भगवान है तू,
तेरे सदाचरण ही मम आसरा है ॥३॥
तूने कुमारपन से सव योग साधा,
भाई सदा सकल जीवन की भलाई,
तत्त्वार्थ का मरम मानव को वताया,
तेरे सदाचरण ही मम आसरा है ॥४॥
निर्व्याजवन्धु जगनायक तू जगो का,
तेरी करे न किसका हित दिव्य वाणी,
तेरा प्रभाव किसके हिय पै पड़े ना,
तेरे सदाचरण ही मम आसरा है ॥५॥

बारूद आग लगने पर ज्यो उडे, त्यों,
नानाभवोद्भव महागिरि पाप के भी—
देवेन्द्र ! दर्शन किये तब नष्ट होते,
तेरे सदाचरण ही मम आसरा है ॥६॥
जो साम्यभाव धर जीव दया प्रचारे,
है क्रूर जन्तुगण भी उनके हितैषी,
ये बात नाथ अहिछत्र बता रहा है,
तेरे सदाचरण ही मम आसरा है ॥७॥
तू वीतराग भगवान, मुनीन्द्र है तू,
इष्टोपदेश-कर तू, जगपूज्य है तू,
मेरा 'नमोऽस्तु' भगवन् तुझको हमेशा,
तेरे सदाचरण ही मम आसरा है ॥८॥
हो देश मैं सब जगह सुख-शाति पूरी,
हिंसा प्रवृत्ति जग से उठ जाय सारी,
पावे प्रमोद सब राष्ट्र कुटुम्ब मेरा,
कल्याण तू कर सदा भगवन् नमस्ते ॥९॥
जो भव्य शुद्ध बनके स्तव को पढ़ेगा,
कल्याण-भाव जग का हिय मे धरेगा,
सन्मान्य हो सकल का हित वो करेगा,
संसार के कुपथ सागर को तिरेगा ॥१०॥

※ ※ ※

श्रीवीरस्तव

श्रीमन्, महावीर, विभो, मुनीन्दो,
देवाधिदेवेश्वर, ज्ञानसिन्धो,
स्वामिन्, तुम्हारे पदपद्म का हो—
प्रेमी सदा ही यह चित्त मेरा ॥१॥
स्वामिन् किसी का न वुरा विचारूं,
सन्मार्ग पै मैं चलते न हारूँ,
तत्त्वार्थ श्रद्धान सदैव धारूँ,
दो शक्ति, हो उत्तम शील मेरा ॥२॥
सदा भलाई सवकी करूँ मैं,
सामर्थ्य पा जीवदया धरूँ मैं,
ससार के क्लेश सभी हरूँ मैं,
हो, ज्ञान, चारित्र, विशुद्ध मेरा ॥३॥
स्वामिन् तुम्हारी यह शान्त मुद्रा,
किसके लगाती हिय मे न मुद्रा,
कहे उसे क्या यह वुद्धि क्षुद्रा,
स्वीकारिये नाथ प्रणाम मेरा ॥४॥
प्रभो तुम्ही हो निकटोपकारी,
प्रभो तुम्ही हो भवदु.खहारी,
प्रभो तुम्ही हो शुचि पथचारी,
हो नाथ साष्टाङ्ग प्रणाम मेरा ॥५॥

जो भव्य पूजा करते तुम्हारी,
होती उन्हों की गति उच्च प्यारी,
प्रसिद्धि है 'दादुर फूल' वारी,
सम्पूर्ण है निश्चय नाथ मेरा ॥६॥

मेरी प्रभो दर्शन शुद्धि होवे,
सद्भावनापूर्ण समृद्धि होवे,
पाँचो व्रतों की शुभ सिद्धि होवे,
सद्बुद्धि पै हो अधिकार मेरा ॥७॥

आया नही गोतम विज्ञ जौलौ—
खिरी न वाणी तव दिव्य तौलौ,
पीयूष से पात्र भरा सतौलौ—
मैं पात्र होऊँ अभिलाष मेरा ॥८॥

प्रभो तुम्हें ही दिन रात ध्याऊं,
सदा तुम्हारे गुणगान गाऊँ,
प्रभावना खूब करूँ कराऊँ,
कल्याण होवे सब भाँति मेरा ॥९॥

श्रीवीर के मारग पै चले जो,
श्रीवीर पूजा मन से करे जो,
सद्भव्य वीरस्तव को पढे जो,
वे लब्धियाँ पा सुखपूर्ण होवे ॥१०॥

※※※

आलोचना पाठ

है दोष, है गुण, महेश मनुष्य हूँ मैं,
है पापपुण्यमय मानव देह मेरा,
जो नाथ दोष व्रत के मुझसे हुए हो,—
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ॥१॥
मैंने प्रभो स्वपर का हित ना विचारा,
अज्ञान मोह वश दुर्गुण चित्त धारा,
पूरा किया न जगदीश्वर काम प्यारा,
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ॥२॥
जिह्वा रही न वस मे, रस भी न छोडा,
मोडा न नेक मुख दुर्दम वृत्तियो से,
नाना अनर्थ कर अर्थ समर्थ, जोड़ा,
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ॥३॥
हे नाथ ध्यान धरके तुझको न ध्याया,
स्वाध्याय मे मन लगा निज को न ध्याया,
पाया प्रमोद विकथा कर देव मैंने,
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ॥४॥
मैंने प्रमादवश दुर्गुण भी किये है,
गार्हस्थ्य कार्य जतना[1] विन हो गये है,
हाँ, लोक के हृदय भी मुझसे दुखे है,
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ॥५॥

---

१ विधि—यत्न ।

आराधना मन लगाकर की न तेरी,
देती रही जगत मे चलवृत्ति फेरी ।
ऐसी हुई प्रभु भयकर भूल मेरी,
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ।।६।।
बाँधे प्रभो सुकृत के बहुधा नियाणे[1],
नाना प्रकार रस–हास–विलास माणे ।
जाणे न कर्म रिपु, ना तुमको पिछाणे,
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ।।७।।
अध्यात्म का रस पिया छक खूब मैंने,
ससार का हित किया भरपूर मैंने ।
आलोचना इस तरह करते बनी ना,
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ।।८।।
षट्कायजीव करुणा करते न हारा,
मारा कषाय, मन मे न प्रमाद धारा ।
आलोचना इस तरह करते बनी ना,
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ।।९।।
ससार का हित महेश महा करे तू,
है ये प्रसिद्ध अमनस्क मुनीन्द्र है तू ।
तो भी तुझे न अपना मन दे सका मैं,
कीजै क्षमा कर कृपा भगवान, याचूँ ।।१०।।
गम्भीर ध्यान धरके भगवान का जो,
आलोचना पढ करे निज शुद्धि देही ।
हो जातिरत्न वह कीर्ति अनन्य पावे,
सद्द्रव्य सिद्धिवर पत्तन को वसावे ।।११।।

※ ※ ※

---

१ निदान—फलाकाक्षा ।

सामायिक-भावना

हो सत्त्व पै सखिपना, मुद हो गुणी पै,
माध्यस्थ भाव मम होय विरोधियो पै।
दुखार्त पै अयि दया धन हो दया हो,
हों नाथ कोमल सदा परिणाम मेरे ॥१॥

धारूँ क्षमा सुमृदुता[1] ऋजुता[2] सदा मैं,
त्यो सत्य, शौच, प्रिय सयम भी न त्यागूँ।
छोड़ूँ नही तप, अकिंचन, ब्रह्मचर्य,
है रत्नराशि दशलक्षण धर्म मेरा ॥२॥

मैं देव पूजन करूँ गुरु-भक्ति साधूँ,
स्वाध्याय मे रच सुसंयम आदरूँ मैं।
धारूँ प्रभो तप, निरन्तर दान दूँ मैं,
षट्कर्म ये नित करूँ जवलो गृही हूँ ॥३॥

पाऊँ महासुख प्रभो, दुःख वा उठाऊँ,
सोऊँ पलँग पर, भूपर ही पड़ूँ वा।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा ॥४॥

---

१ मार्दव। २ आर्जव।

चाहे रहूँ भवन मे, वन मै रहूँ, या—
प्रासाद मे बस रहूँ, अथवा कुटी मे।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा ॥५॥

सुस्वाद व्यजन सहस्र प्रकार के हो,
आहार हो विरस, या वह भी मिले ना।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रवल हो मम नाथ ऐसा ॥६॥

सिंहासन प्रचुर रत्न जडा प्रभो हो—
किंवा कठोरतर पत्थर बैठने को।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रवल हो मम नाथ ऐसा ॥७॥

चाहे चलूं मखमली पग पाँवडो पै—
या तय करूँ विकट कटक पूर्ण पंथा।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी
सामायिक प्रबल हो मम नाथ ऐसा ॥८॥

सैलून हो, विविध मोटर गाडियाँ हो,
हो बग्घियाँ, न पद भी कुछ साथ दे या।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रवल हो मम नाथ ऐसा ॥९॥

मेरी करें भुवन के सब भूप सेवा,
या मैं करूँ भुवन के जन की सुसेवा।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रवल हो मम नाथ ऐसा ॥१०॥

श्रीदेवदेव वहु इष्ट वियोग होवे,
किंवा अनिष्टकर योग महान होवे।
सोहे तथापि समता अति उच्च मेरी,
सामायिक प्रवल हो मम नाथ ऐसा ॥११॥

सामायिक स्तवन को जन जो पढेगे,
ससार के सुख-दुखोदधि को तिरेगे।
होगे कभी न चलमानस धर्मधारी,
श्रीशप्रतापवश सिद्धि उन्हे वरेगी ॥१२॥

※ ※ ※

बारह-भावना

अनित्य भावना

देह-गेह सजने मे लगे क्या हो गिरिधर,
देह-गेह जोबन अनित्य सब मानिये।
पीपल के पान सम कुजर के कान सम,
वादल की छाँह सम इन्हे चल जानिये ॥
बिजली की चमक-सी पानी के बुदबुद-सी,
इन्द्र के धनुष-सी ये सम्पति प्रमानिये।
दया, दान, धर्म मे लगा के इसे भली-भाँति,
ठानिये परोपकार सुख मन आनिये ॥१॥

अशरण भावना

राजा महाराजा चक्रवर्ती सेठ साहूकार,
सुर नर किन्नर सकल गिन जाइये।
कोई भी समर्थ नही किसी को बचाने को,
आसरा इन्ही से फिर किस तरह पाइये ॥
तारण तरण एक गुरु के चरण सोहे,
उनकी शरण गह ज्ञान मन लाइए।
गाइये गुणानुवाद गिरिधर ईश्वर के,
भय को नमाइये औ आनन्द मनाइये ॥२॥

संसार भावना

नाना जीव वार-वार जनम-जनम मरे,
नये-नये धरे देह जाँच कर लीजिए।
जग है असार यहाँ कोई वस्तु सार नही,
दु खभरी गतियाँ है चारो देख लीजिए ॥
गिरिधर चित्त मे न दोप कही घुस वैठे,
इससे सदा ही सावधान रह जीजिये।
सवकी भलाई कर रखिये चरित्र शुद्ध,
पीजिए सुज्ञानामृत आत्म-ध्यान कीजिए ॥३॥

एकत्व भावना

आये है अकेले और जायेगे अकेले सव,
भोगेगे अकेले दु ख-सुख भी अकेले ही।
माता-पिता, भाई, वन्धु, सुत, दारा, परिवार,
किसी का न कोई साथी सव है अकेले ही ॥
गिरिधर छोडकर दुविधा न सोचकर,
तत्त्व छान वैठ के एकान्त मे अकेले ही।
कल्पना है नाम रूप झूठे राव रक भूप,
अद्वितीय चिदानन्द तू तो है अकेले ही ॥४॥

अन्यत्व भावना

घर वार धन धान्य दौलत खजाने माल,
भूषण वसन वडे-वडे ठाठ न्यारे हैं।
न्यारे-न्यारे अवयव शिर धड पाँव न्यारे,
जीभ त्वचा आँख नाक कान आदि न्यारे हैं ॥
मन न्यारा चित्त न्यारा चित्त के विकार न्यारे,
न्यारा है अहकार सकल कर्म न्यारे है।
गिरिधर शुद्ध-बुद्ध तू तो एक चेतन है,
जग मे है और जो-जो तोसे सारे न्यारे है ॥५॥

अशुचि भावना

गिरिधर मल-मल साबू खूव न्हाये धोये,
कीमती लगाये तेल वार-वार वाल में।
केवडा गुलाब बेला मोतियाँ के सूंघे इत्र,
खाये खूब माल ताल पड खोटी चाल मे ॥
पहने वसन नीके निरख-निरख काच,
गर्व कर देह का न सोचा किसी काल मे।
देह अपवित्र महा हाड माँस रक्त भरा,
थैला मलमूत्र का बँधा है नसजाल मे ॥६॥

आस्रव भावना

मोह की प्रबलता से कषायो की तीव्रता से,
विपयो मे प्राणी मात्र देखो फंस जाते है।
यहाँ फँसे वहाँ फँसे यहाँ पिटे वहाँ कुट,
इसे मारा उसे ठोका पाप यो कमाते है ॥
पडते परन्तु जैसे-जैसे है कषाय मन्द,
वैसे-वैसे उत्तम प्रकृति रच पाते है।
गिरिधर बुरे भले मन वच काय योग,
जैसे रहे सदा वैसे कर्म बन आते है ॥७॥

सवर भावना

तोड डाल भ्रमजाल, मोह से विरत हो जा,
कर न प्रमाद कभी छोड दे कषाय तू।
दूर हो विचार वात करने से विषयो की,
माथे पडी सारी सह मन्न उकताय तू ॥
मन रोक वाणी रोक रोक सब इन्द्रियो को,
गिरिधर सत्य मान कर ये उपाय तू।
बधेंगे न कर्म नये निरपेक्ष होके सदा,
कर्तव्य पालन कर खूव ज्यो सुहाय तू ॥८॥

निर्जरा भावना

इससे न बात करो इसे यहाँ न आने दो,
इसको सताओ मारो क्योकि दोषवान है।
कपटी कलकी क्रूर पापी अपराधी नीच,
चोर, डाकू, गँठकटा कुकर्मों की खान है ॥
रख के विचार ऐसे लोग जो सतावे तो भी,
सहले विपत्तियो को माने ऋणदान है।
गिरिधर धर्म पाले किसी से न बाँधे वैर,
तप से नसावे कर्म वही ज्ञानवान है ॥९॥

लोक भावना

बाकी कर कोन्हियो को जरा पाँव दूर रख,
आदमी को खडाकर गिरिधर ध्यान धर।
चतुर्दश राजू लोक ऐसा ही है नराकार,
उसमे भरे हैं द्रव्य छहो सभी स्थान पर ॥
एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय त्यो,
पचेन्द्रिय सञ्ज्ञयसञ्ज्ञी पर्याप्तापर्याप्त कर।
भरे ही पडे हैं जीव पर सब चेतन हैं,
स्वानुभव करे त्यो-त्यो पावे मोक्ष धाम वर ॥१०॥

बोधिदुर्लभ भावना

एक-एक श्वास मे अठारह-अठारह बार,
मर-मर धरे देह जगजीव जान लो।
बडी ही कठिनता से निकले निगोद से तो,
अगणित वार भ्रमे भव-भव मान लो ॥
दुर्लभ मनुष्य भव सर्वोत्तम कुलधर्म,
पाये हो गिरिधर तो सत्य तत्व छान लो।
होकर प्रमादवश कालक्षेप करो मत,
सबकी भलाई करो निज को पिछान लो ॥११॥

धर्म भावना

बाहरी दिखावटो को रहने न देता कही,
सारे दोष दूरकर सुख उपजाता है।
काम,क्रोध,लोभ,मोह,राग,द्वेष,माया, मिथ्या,
तृष्णा, मद, मान, मल सबको नसाता है ॥
तन-मन वाणी को बनाता है विशुद्ध और,
पतित न होने देता ज्ञान प्रकटाता है।
गिरिधर धर्मप्रेम एक सत्य जग बीच,
परमात्म तत्त्व मे जो सहज मिलाता है ॥१२॥

※※※

तीर्थंकर-नामगोत्र-भावना

श्रीरस्तु

इमेहि ण वीसाए कारणेहिं आसेविय वहुली कएहिं तित्थयर णामगोयं कम्मं निव्वत्तिसु । त जहा—

अरहत[1] सिद्ध[2] पवयण[3] गुरु[4]थेरे[5]वहुस्सुए[6]तवस्सीसु[7] ।
वच्छल्लया य एसिं अभिक्खनाणोवओगे[8] य ॥१॥
दसण[9] विणए[10] आवस्सए[11] य सीलव्वए[12] निरइयारो ।
खणलव[13] तव[14]च्चियाए[15] वेयावच्चे[16] समाही[17] य ॥२॥
अपुव्वनाणगहणे[18] सुयभत्ती[19] पवयणे[20] पहावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥३॥

—(आवश्यक निर्युक्ति १७६-१७८)

मनुष्य इन वीम कारणो मे तीर्थंकर नामगोत्र कर्म का उपार्जन करता है । यथा—

१. अरहन्तभक्ति	२ सिद्धभक्ति
३. प्रवचनभक्ति	४ गुरु (आचार्य) भक्ति
५. स्थविरभक्ति	६ वहुश्रुत (उपाध्याय) भक्ति
७ तपस्विवत्सलता	८. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग
९. दर्शन-विशुद्धि	१० विनयसम्पन्नता
११. आवश्यक-अपरिहाणि	१२. शीलव्रतनिरतिचारता
१३ खणलव (वैराग्य) भावना	१४ तपोभावना
१५. त्यागभावना	१६ वैयावृत्यकरण
१७. समाधिभावना	१८. अपूर्वज्ञानग्रहणभावना
१९ श्रुतभक्ति	२०. प्रवचन-प्रभावना ।

सामायिक के समय इन वीस कारणो की निरन्तर भावना करते रहना चाहिए ।

अरिहन्त-भक्ति

घन घाती चउ कर्म विनाशे,
ज्ञानानन्त-चतुष्क प्रकाशे।
उन अरिहन्तो को नित ध्याऊं,
जिससे मैं अर्हत्पद पाऊँ ॥१॥

सिद्ध-भक्ति

अष्ट कर्म जिन नाश किये है,
आठ सुगुण जिन प्राप्त किये है।
उन सिद्धो का ध्यान धरूँ मै,
कव अष्टम-भू-वास करूँ मै ॥२॥

प्रवचन-भक्ति

प्रवचन-भक्ति सदा मम होवे,
प्रवचन-अनुमत-वचन सु होवे।
स्व-पर-भेद जिससे नित दीखें,
उसको ही हम निशि दिन सीखें ॥३॥

आचार्य-भक्ति

जबलो नहि आचार्य रूप हो,
तबलो उनका गुण-सुमरण हो।
मेरी परिणति उनके सम हो,
यही भावना मन मे नित हो ॥४॥

स्थविर-भक्ति

वृद्ध साधु या जो चिर-दीक्षित,
वे मुनि है स्थविर पद-भूषित।
उनमे भक्ति सदा मम होवे,
जिससे मन मेरा थिर होवे ॥५॥

बहुश्रुत-उपाध्याय-भक्ति

स्वय पढे अरु शिष्य पढावे,
वे बहुश्रुत उवज्झाय कहावे।
वस्तु-स्वरूप दिखावनहारे,
उनमे हो नित भक्ति हमारे ॥६॥

तपस्वि-भक्ति

षष्ठम अष्टम मास-खमण को,
करते है जो कर्म-क्षपण को।
उन तपस्वि मुनियो मे भक्ति —
हो, जिससे प्रगटे तप-शक्ति ॥७॥

अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग

नित हो मेरे शास्त्राभ्यास,
जिससे होवे ज्ञान प्रकाश।
मेरी परिणति ऐसी होवे,
ज्ञान-विमुख नहिं आतम होवे ॥८॥

दर्शन-विशुद्धि

कब दर्शन-विशुद्धि मम होवे,
कब सब पर सम दृष्टि होवे।
कब आपा-पर-भेद सु जानूँ,
कब निज अनुभव आप पिछानूँ ॥९॥

विनयसम्पन्नता

कव रत्नत्रय-विनय प्रकाशे,
कब निज-आतम-वोध प्रकाशे।
मन-वच-काय-शुद्धि कव होवे,
कव सर्वाङ्ग विनय गुण होवे ॥१०॥

आवश्यक-अपरिहाणि

षट् आवश्यक कब मैं धारूँ,
नित उनका ही भेद विचारूँ।
कर्म-जाल से होऊँ विमुक्त,
बनूं आत्म-गुण-गण से युक्त ॥११॥

शीलव्रत-निरतिचारिता

कब कुशील तज शील सुधारूँ,
कब मैं निर्मलता विस्तारूँ।
कब श्रावक-मुनि के व्रत पालूं,
कब निज-आतम रूप संभालूं ॥१२॥

खण-लवता (अभीक्ष्ण-सवेगता)

पुत्र-मित्र-धन-धान्यादिक से,
हो वैराग्य सदा मम पर से।
इन्द्रिय-विषय क्षणिक सुख-दाता,
मेरा इनसे फिर क्या नाता ॥१३॥

शक्तितस्तपोभावना

द्वादशतप आतम-हितकारी,
तप ही काटै विपदा सारी।
सचित - कर्म-दहन-हित-ज्वाला,
शिव-सुख को यह देने वाला।
कब हो मेरे सो तप-धारण,
ये ही है जग-भ्रमण-निवारण।
रहे भावना ऐसी मेरी
प्रगटै तप की शक्ति घनेरी ॥१४॥

शक्तितस्त्याग-भावना

शक्त्यनुसार त्याग नित होवे,
लोभ पाप का बाप न होवे।
सदा पात्र को त्रिविध योग से,
दान सदा ही देऊँ प्रेम से ॥१५॥

वैयावृत्यकरण

आधि-व्याधि से पीडित जो हो,
रोग शोक जिनको कुछ भी हो।
उनकी वैयावृत्त्य करूँ मैं,
जग-उपकारी कार्य करूँ मैं ॥१६॥

साधु-समाधि

मरण और उपसर्ग जु होवे,
इष्ट-वियोग कभी या होवे।
भय न कभी तब मेरे होवे,
यह शुभ साधु-समाधि सु होवे ॥१७॥

अपूर्वज्ञान-ग्रहण

शास्त्रो का नित पठन करूँ मैं,
नित नव ज्ञान ग्रहण करूँ मैं।
ज्ञानमयी चेतन है मेरा,
ज्ञान-सूर्य का होय सवेरा ॥१८॥

श्रुत (शास्त्र) भक्ति

इस पचम कलि काल मझारा,
जिन वाणी अमृत-रस-धारा।
वस्तु - स्वरूप - दिखावनहारी,
उसमे हो नित भक्ति हमारी ॥१९॥

प्रवचन या शासन-प्रभावना

जिन शासन तिहुँ जग में सार,
सर्व जीव का है हितकार।
कैसे उसका होय प्रचार,
कब सब जन इसको ले धार ॥२०॥

ये है वे बीस ही कारण,
भावे जिनको भविजन पावन।
भविक-मोर-जन को जो जल-धर,
होते वे इससे तीर्थंकर ॥२१॥

❋ ❋ ❋

वैराग्य मणिमाला

चिन्तन कर परमातम देव।
योगि समूह करे जिन सेव ॥
भवसागर मे नौका सम जो।
केवल-ज्ञानामृत-मय है जो ॥१॥
तज रे जीव धनादिक तृष्णा।
तज ममता अरु लेश्या कृष्णा ॥
चारित धर पालो नित शील।
जिससे हो शिव-सगम लील ॥२॥
लख अनित्य यह दुखद शरीर।
तात, मात, नारी, धन, वीर ॥
चाह करे फिर भी उनकी तू।
काल लखै नहिं, बना मूढ तू ॥३॥
बाल्यकाल मे क्रीडासक्त।
यौवन-वय मे रमिणी-रक्त ॥
वृद्धपने धन आशा कष्ट।
यो तुम हुए अहो बहु दुष्ट ॥४॥
विषय-भोग मे है क्यो आशा।
यह तो है तुव गल की पाशा ॥
मर के पावे नरक निवासा।
तदपि न छोडे तू धन-आशा ॥५॥

भ्रात, सुनहु मेरे वच-सार।
जो तू चाहे भव से पार॥
मोह काम अरु तज दे क्रोध।
भजले सयम अरु वरबोध॥६॥

जग मे नारी, पुत्र कौन है।
यह भव तो वहु दु खयोनि है॥
हुए पूर्व भव मे तुम कैसे।
पाप कर्म से पापी जैसे॥७॥

भावो अशरण शरण सदा ही।
चिन्तो अर्थ अनर्थ सदा ही॥
नश्वर काय, पराक्रम, वित्त।
वाछा करते फिर भी चित्त॥८॥

जाय अकेला जीव नरक मे।
कभी पुण्य से जाय स्वर्ग मे॥
राजा और धनेश अकेला।
होय दास अविवेक अकेला॥९॥

रोगी, शोकी, होय अकेला।
सुखी-दु खी भी सदा अकेला॥
होय दरिद्री अरु व्यवहारी।
भ्रमै अकेला दुखिया भारी॥१०॥

अथिर सुपरिजन पुत्र कलत्र।
सभी मिले है दु ख के सत्र॥
चिन्तो चित मे निश्चय भ्रात।
जननी कौन, कौन तुव तात॥११॥

यम नियमासन योगाभ्यास ।
इनसे कर निज आत्म प्रकाश ॥
परम ध्यान को धर के वीर ।
भवसागर के पहुँचो तीर ॥२४॥

पच परम गुरु की साक्षी से ।
जो चारित तुम लिया प्रेम से ॥
उसको पालो यावज्जीव ।
यह भवसागर नाव सदैव ॥२५॥

वस्तु अनित्य सभी तू तज दे ।
शुद्ध आत्म की रक्षा कर ले ॥
आशा दासी सगम हर के ।
समता और उपेक्षा धर ले ॥२६॥

पर्यंकादि योग अभ्यास ।
करहु यत्न से ज्ञान प्रकाश ॥
दुर्धर मोह महा विष सर्प ।
कील ज्ञान से मरदो दर्प ॥२७॥

ससारेन्धन — दाहन — शक्त ।
पूरक कुम्भक रेचक बात ॥
इनसे करले निर्मल काया ।
पीछे आतम ध्यान बताया ॥२८॥

ध्यान समय मन्त्रो को जप ले ।
उनका ही तू शरणा धर ले ॥
जिससे फिर नहिं होगा मरना ।
अरु होगा भवसागर तरना ॥२९॥

भ्रात, सुनहु मेरे वच-सार।
जो तू चाहे भव से पार॥
मोह काम अरु तज दे क्रोध।
भजले सयम अरु वरबोध॥६॥

जग मे नारी, पुत्र कौन है।
यह भव तो बहु दुखयोनि है॥
हुए पूर्व भव मे तुम कैसे।
पाप कर्म से पापी जैसे॥७॥

भावो अशरण शरण सदा ही।
चिन्तो अर्थ अनर्थ सदा ही॥
नश्वर काय, पराक्रम, वित्त।
वाछा करते फिर भी चित्त॥८॥

जाय अकेला जीव नरक मे।
कभी पुण्य से जाय स्वर्ग मे॥
राजा और धनेश अकेला।
होय दास अविवेक अकेला॥९॥

रोगी, शोकी, होय अकेला।
सुखी-दुखी भी सदा अकेला॥
होय दरिद्री अरु व्यवहारी।
भ्रमै अकेला दुखिया भारी॥१०॥

अथिर सुपरिजन पुत्र कलत्र।
सभी मिले है दुख के सत्र॥
चिन्तो चित मे निश्चय भ्रात।
जननी कौन, कौन तुव तात॥११॥

वैराग्य मणिमाला

चिन्तन कर परमातम देव।
योगि समूह करे जिन सेव ॥
भवसागर मे नौका सम जो।
केवल-ज्ञानामृत-मय है जो ॥१॥
तज रे जीव धनादिक तृष्णा।
तज ममता अरु लेश्या कृष्णा ॥
चारित धर पालो नित शील।
जिससे हो शिव-संगम लील ॥२॥
लख अनित्य यह दुखद शरीर।
तात, मात, नारी, धन, वीर ॥
चाह करे फिर भी उनकी तू।
काल लखै नहिं, वना मूढ तू ॥३॥
वाल्यकाल मे क्रीडासक्त।
यौवन-वय मे रमिणी-रक्त ॥
वृद्धपने धन आशा कष्ट।
यो तुम हुए अहो वहु दुष्ट ॥४॥
विषय-भोग मे है क्यो आशा।
यह तो है तुव गल की पाशा ॥
मर के पावे नरक निवासा।
तदपि न छोडे तू धन-आशा ॥५॥

भ्रात, सुनहु मेरे वच-सार।
जो तू चाहे भव से पार॥
मोह काम अरु तज दे क्रोध।
भजले सयम अरु वरबोध॥६॥

जग मे नारी, पुत्र कौन है।
यह भव तो वहु दु खयोनि है॥
हुए पूर्व भव मे तुम कैसे।
पाप कर्म से पापी जैसे॥७॥

भावो अशरण शरण सदा ही।
चिन्तो अर्थ अनर्थ सदा ही॥
नश्वर काय, पराक्रम, वित्त।
वाछा करते फिर भी चित्त॥८॥

जाय अकेला जीव नरक मे।
कभी पुण्य से जाय स्वर्ग मे॥
राजा और धनेश अकेला।
होय दास अविवेक अकेला॥९॥

रोगी, शोकी, होय अकेला।
सुखी-दु खी भी सदा अकेला॥
होय दरिद्री अरु व्यवहारी।
भ्रमै अकेला दुखिया भारी॥१०॥

अथिर सुपरिजन पुत्र कलत्र।
सभी मिले है दु ख के सत्र॥
चिन्तो चित मे निश्चय भ्रात।
जननी कौन, कौन तुव तात॥११॥

मोहयुक्त हो करके जाया।
वन्धु मित्र हित पाप कमाया॥
उसी पाप से जाय नरक मे।
विपदा घोर सहोगे पल मे॥१२॥

विषय पिशाची सगम तज दे।
क्रोध कपाय मूल से हर ले॥
काम-वाण का करदे नाश।
इन्द्रिय चोर मूल से नाश॥१३॥

हाड माँस का वना शरीर।
अशुचि वस्तु की जान कुटीर॥
रज वीरज से वना हुआ है।
फिर भी उसमे पगा हुआ है॥१४॥

भवसागर मे काल अनन्त।
तूने पाये दु:ख महन्त॥
फिर भी तू है विपयासक्त।
अरे, मूढ अव होय विरक्त॥१५॥

दुर्गति दु:ख से दु:खी हुआ तू।
उनके पीछे तदपि पडा तू॥
विकल मत्त हो भूताविष्ट।
किया पाप आचरण अशिष्ट॥१६॥

सप्त धातु मय पुद्गल-पिण्ड।
कृमि-कुल-कलित, रोगफणि-खण्ड॥
मस्त हुआ है तू ज्यों सण्ड।
तेरे शिर पर है यम दण्ड॥१७॥

मतकर यौवन धन का गर्व ।
काल हरेगा तेरा सर्व ॥
इन्द्रजाल सम निष्फल येह ।
खोज मोक्ष पद, सुख का गेह ॥१८॥

कमल पत्र पर ज्यों जल चंचल ।
इन्द्र चाप या विद्युन्मण्डल ॥
क्या न दिखे त्यो ही ससार ।
जाने उसको भ्रम से सार ॥१६॥

रोग शोक से भरे हुए को ।
तज दे तू इस भव कानन को ॥
तेरे कर को कौन पकड के ।
समझावेगा करुणा करके ॥२०॥

सभी परिग्रह को तू तज दे ।
सम्यक् चारित को फिर धर ले ॥
काम क्रोध का नाशक मन्त्र ।
करले आतम ध्यान पवित्र ॥२१॥

विषय विनोद छोड दे भाई ।
फिर पा ले शिव की ठकुराई ॥
शुल्क ध्यान मे चित्त लगा के ।
फिर शिव के सुख भोगो जाके ॥२२॥

काम विकार, कषाय सु तज के ।
आशा-वसन विहारी बन के ॥
गिरि कन्दर मे आसन धरके ।
करले ध्यान आत्म को लख के ॥२३॥

यम नियमासन योगाभ्यास ।
इनसे कर निज आत्म प्रकाश ।।
परम ध्यान को धर के वीर ।
भवसागर के पहुँचो तीर ।।२४।।

पच परम गुरु की साक्षी से ।
जो चारित तुम लिया प्रेम से ।।
उसको पालो यावज्जीव ।
यह भवसागर नाव सदैव ।।२५।।

वस्तु अनित्य सभी तू तज दे ।
शुद्ध आत्म की रक्षा कर ले ।।
आशा दासी सगम हर के ।
समता और उपेक्षा धर ले ।।२६।।

पर्यंकादि योग अभ्यास ।
करहु यत्न से ज्ञान प्रकाश ।।
दुर्धर मोह महा विप सर्प ।
कील ज्ञान से मरदो दर्प ।।२७।।

ससारेन्धन — दाहन — शक्त ।
पूरक कुम्भक रेचक वात ।।
इनसे करले निर्मल काया ।
पीछे आतम ध्यान वताया ।।२८।।

ध्यान समय मन्त्रो को जप ले ।
उनका ही तू शरणा धर ले ।।
जिससे फिर नहिं होगा मरना ।
अरु होगा भवसागर तरना ।।२९।।

अविचल चित्त बन्धु तुम धारो ।
जिससे स्वय पार हो जाओ ॥
फिर तुम होगे केवलज्ञानी ।
मुक्ति रमा के भोक्ता मानी ॥३०॥

शुद्ध रूप मय चिन्मय पिण्ड ।
सच्चित्, आनन्दामृत पिण्ड ॥
चेतन रम्य कौमुदी चन्द्र ।
चिन्तो निज को गुण गण सान्द्र ॥३१॥

निर्मल चिद्रूपामृत—सिन्धु ।
शुक्ल ध्यान अम्बुज के बन्धु ॥
सिद्धि वधूवर सरसी हस ।
देख मोक्ष को शान्त निरश ॥३२॥

ज्ञानार्णव कल्लोल स्वरूपी ।
निज मे जो नित रमै अरूपी ॥
नव केवल लब्धी का स्वामी ।
जो मुनिगण सेवित जगनामी ॥३३॥

केवल कैरविणी पति है जो ।
मुक्ति रमा का भूषण है जो ॥
त्रिभुवन लक्ष्मी भाल विशेष ।
वह लख गुण गणमयी अशेष ॥३४॥

शिव हसी सगम सस्नेही ।
अष्टगुणान्वित और विदेही ॥
वोधि सुधारस पान पवित्र ।
समता सागर त्रिभुवन नेत्र ॥३५॥

जो अनन्त, अविचल सद्-वेदी।
योगि वृन्द, वृन्दारक सेवी ॥
हरिहर ब्रह्मादिक से वंद्य।
केवल कल्याणोत्सव हृद्य ॥३६॥
श्रुत शैवलिनी सुर-गिरि भारी।
मुक्ति रमा-कर-दर्पण-धारी ॥
कर्म महीधर-भेदन-कार।
श्याम श्री-ग्रीवालकार ॥३७॥
व्योमाकार पुरुप निष्पाप।
किया शमन जिसने भवताप ॥
काम दहनकर किया निपात।
त्रिभुवन-भव्य-जीव हित तात ॥३८॥
इत्यादिक गुणगण मय सत्य।
चिन्तो परमातम को नित्य ॥
प्रवचन मात्राष्टक को धार।
हो जा भव से फिर तू पार ॥३९॥
निज देहस्थ उसे अवधार।
भेद न उससे करहु विचार ॥
"सोऽह" भाव सदा हिय धारो।
निज मे निशि दिन वह अवतारो ॥४०॥
एकानेक स्वय अवधारो।
शुद्धाशुद्ध विचार निकारो ॥
करके लक्ष्य अलक्ष्य विचार।
निज के कर्म कलक विदार ॥४१॥
वद्ध-अवद्ध सु रिक्त-अरिक्त।
शून्य-अशून्य, सु व्यक्ताव्यक्त ॥

रुष्ट-अरुष्ट सु दुष्ट-अदुष्ट।
शिष्ट-अशिष्ट सु पुष्टापुष्ट ॥४२॥
निश्चय नय अरु नय व्यवहार।
दोनों नय से भेद-विचार ॥
परम पुरुष देहस्थ कहा है।
परमानन्द स्वभाव महा है ॥४३॥
तज दे निष्फल बाह्य पदार्थ।
लग जा शिव मे आतम हितार्थ ॥
कर निज कारज होय अतन्द्र।
हो जा केवल लक्ष्मीचन्द्र ॥४४॥
तज-तज, विषय-भोग को भाई।
हर-हर, निज तृष्णा अधिकाई ॥
रोक-रोक, मानस-मातग।
धर-धर, जीव विमलतर योग ॥४५॥
निज देहस्थ सुमर ले सिद्ध।
निर्मल ज्ञानमयी सत्-बुद्ध ॥
परम शुद्ध केवल-अवरुद्ध।
सुमर-सुमर, रे जीव, प्रबुद्ध ॥४६॥
यह वैराग्यमयी मणिमाला।
जो छ्यालीस पद्य गुण माला ॥
रची मुमुक्षु श्री श्रीचन्द्र।
जो हैं श्रुतज्ञान के चन्द्र ॥४७॥
भाव-शुद्धि-हित-भाषा कीनी।
जिससे परम शान्ति मैं लीनी ॥
पढ़ै सुनै जो सो सुख पावै।
यही भाव मेरे मन आवै ॥४८॥

※ ※ ※

कल्याण-आलोचना

श्री वर्द्धमान परमात्मन्, पूज्यदेव,
तेरे सदा युगल पाद सरोज पूजूँ।
आत्मीय वा पर विशुद्धि निमित्त से मैं,
आलोचना सकल सौख्यकरी कहूँ हूँ ॥१॥

ससार मे भ्रम रहा चिरकाल से मैं,
मिथ्यात्व के वश हुआ निज रूप भूला।
पै कर्मवन्ध-अवमर्दक-वोधि लाभ,
हा! आजलो नहिं हुआ मुझको कभी भी ॥२॥

मैंने भव-भ्रमण को करते हुए हा,
आराधना न अवलों जिनधर्म की, की।
जिसके विना सतत दुःख अनन्त वार,
भोगे अहो नहिं पता जिसका मुझे है ॥३॥

ससार मे भ्रमण को करते हुए ही,
हा मृत्यु के दुःख सहे जिनका न पार।
सर्वज्ञ देव विन तो उनकी कभी भी,
जानी न जाय गणना इस लोक वीच ॥४॥

हा, क्रोध को कर परस्पर जीव सारे,
पाते भयानक सु नारक दुःख को हैं।
यो जान भी अधम चित्त, न धर्म सेवे,
हा, कष्ट कौन वढकर इससे मुझे है ॥५॥

माता-पिता, स्वजन, बन्धु, सुमित्र, भाई,
कोई न साथ जग मे चलता कभी है ।
ससार मे भ्रम रहा चिरकाल से मैं,
साथी कभी न कोई जग मे हुआ है ॥६॥

होती विनाश जब आयु मनुष्य की है,
तो आयुदान करने न समर्थ कोई ।
देवेन्द्र, नाग, धरणेन्द्र, नृपेन्द्र हो, या,
हो औषधादि मणि-मन्त्र सुजत्र तत्र ॥७॥

मैंने विशुद्ध परिणाम सुयोग से ये,
श्री जैन का परम-पावन मार्ग पाया ।
प्रत्येक ही समय मे करके प्रयत्न,
मानुष्य जन्म यह सार्थक, मेरा सु होवे ॥८॥

सम्यक्त शुद्ध गुण के प्रतिपक्ष जेते,
मिथ्यात्व भेद जिन आगम मे बताये ।
श्रद्धान जो यदि किया अज्ञान से तो,
मिथ्यास्वरूप मम पाप प्रभो, सभी हो ॥९॥

जुआ, शराब, पल-भक्षण आदि सातो,
सेये सदा व्यसन, हा ! जिनदेव, मैंने ।
हा, त्याग भी नहिं किया अबलौं कभी मैं,
मिथ्यास्वरूप मम पाप प्रभो, सभी हो ॥१०॥

जेते अणुव्रत, महाव्रत, शीलभेद,
मैंने लिए, गुरु दिए, प्रभु आजलों सो ।
जो-जो विराधित किये, उनमे सदा ही,
मिथ्यास्वरूप मम पाप प्रभो, सभी हो ॥११॥

भू, शख आदि त्रसथावर जीव जेते,
नाना स्वरूपमय आगम मे वताये।
अज्ञान से यदि विराधन को किया हो,
तो वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥१२॥

चारित्र दोप जितने मैंने किये हो,
या हो गई कुछ व्रतादिक मे वुराई।
सामायिकादि व्रत मे दश धर्म मे या,
तो वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥१३॥

जे फूल, वेलि, फल, पत्र विनाश कीने,
स्नानादि या विन छने जल से, जु कीने।
या की विराधन सुधोवन आदि से मैं,
तो वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥१४॥

पाला न शील तप सयम आदि मैंने,
धारी क्षमा विनय आदि न अल्प मैंने।
हा ! भावना तक नही कुछ भी कभी की,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥१५॥

हा ! कन्दमूल फल आदि सचित्त खाए,
औ, रात्रि भोजन किया सुख-मान मैंने।
अज्ञान से इस तरह वहु पाप कीने,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवें ॥१६॥

सत्पात्र-दान, जिन-पूजन, देव, तेरी,
कीनी, कभी न गमनादिक शुद्धि मैंने।
हा ! भावना तक कभी मन मे न आई,
सो, वे समस्त मम दुष्कृत झूंठ होवे ॥१७॥

आरम्भ सग वश हो बहु पाप कीने,
होके प्रमादवश, जीव विनाश कीने ।
आर्त्तादि ध्यान धर पाप सदा कमाया,
सो वे समस्त मम दुष्कृत दूर होवे ॥१८॥

हा, ढाई द्वीप सम्बन्धि-त्रिकालवर्त्ती,
ससार-तारक जिनेश्वरदेव की मैं ।
आराधना कर सका नहिं स्वप्न मे भी,
सो वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवे ॥१९॥

अर्हन्त सिद्ध अरु सूरिमु पाठको का,
औ, सर्व साधु युत श्री परमेष्ठियो का ।
अज्ञान से यदि विराधन जो किया हो,
सो वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवे ॥२०॥

जो क्रोध, मान, छल, लोभ रु राग, द्वेष,
मोह-स्वरूप बन भाव अशुद्ध राखे ।
अज्ञान लीन बनके हा, पाप मैंने,
जेते किये, सकल वे मम नाश होवे ॥२१॥

होके प्रमादवश आत्मस्वरूप भूल,
हिंसा, असत्य, पर-वस्तु परांगना को ।
हा, सेय-सेय, बहु पाप सदा कमाया,
सो वे समस्त मम दुष्कृत नाश होवे ॥२२॥

मैं नित्य एक निज रूप स्वभाव सिद्ध,
हूँ मुक्त रूप नित सर्व विकल्प से मैं ।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥२३॥

मैं हूँ अमूर्त, वर्णादिक चार हीन,
बाधा विना दृग अनन्त सुज्ञानधारी ।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥२४॥

मै एक ही समय मे निज ज्ञान द्वारा,
सम्पूर्ण ज्ञेय लखके रमता स्वरूप ।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥२५॥

एक स्वरूप अथवा बहुरूप मैं हूँ,
ऊर्ध्व-स्वभाव-गतिरूप सदा रहूँ मैं ।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥२६॥

देह-प्रमाण अविनाशि रहूँ सदा मैं,
विस्तार से बन सकूँ पर लोक मान ।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥२७॥

मेरा पवित्र जब रूप सुव्यक्त होवे,
हो बोध-दृष्टि तब तो मम एक साथ ।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥२८॥

जो है विभावगुण मुक्त पवित्र रूप,
आनन्दमय, विमलमूर्ति, गुणो भरा जो ।
सो लोक मे शरण तो मम है न दूजा,
है एक ही शरण सो परमात्म देव ॥२९॥

मेरी भावना

जिसने राग-द्वेष कामादिक, जीते सब जग जान लिया,
सब जीवो को मोक्ष-मार्ग का, निस्पृह हो उपदेश दिया ।
बुद्ध, वीर, जिन, हरिहर ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भाव से प्रेरित हो, यह चित्त उसी मे लीन रहो ॥१॥

विषयो की आशा नही जिनको, साम्य-भाव धन रखते हैं,
निज-पर के हित साधन मे जो, निशि-दिन तत्पर रहते हैं ।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या, बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के, दु:ख-समूह को हरते हैं ॥२॥

रहे सदा सत्संग उन्ही का, ध्यान उन्ही का नित्य रहे,
उन्ही जैसी चर्या में यह, चित्त सदा अनुरक्त रहे ।
नही सताऊँ किसी जीव को, झूठ कभी नही कहा करूँ,
पर-धन, वनिता पर न लुभाऊँ, सन्तोषामृत पिया करूँ ॥३॥

अहङ्कार का भाव न रक्खूं, नही किसी पर क्रोध करूँ,
देख दूसरो की बढती को, कभी न ईर्ष्या-भाव धरूँ।
रहे भावना ऐसी मेरी, सरल सत्य व्यवहार करूँ,
बने जहाँ तक इस जीवन मे, औरो का उपकार करूँ ।।४।।

मैत्री-भाव जगत मे मेरा, सब जीवों से नित्य रहे,
दीन-दुःखी जीवो पर मेरे, उर से करुणा-स्रोत बहे।
दुर्जन-क्रूर कुमार्ग-रतो पर, क्षोभ नही मुझको आवे,
साम्य-भाव रक्खूं मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ।।५।।

गुणीजनो को देख हृदय मे, मेरे प्रेम उमड आवे,
बने जहाँ तक उनकी सेवा, करके यह मन सुख पावे।
होऊँ नही कृतघ्न कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषो पर जावे ।।६।।

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखो वर्षों तक जीऊँ या, मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे,
तो भी न्याय-मार्ग से मेरा, कभी न पद डिगने पावे ।।७।।

होकर सुख मे मग्न न फूले, दुःख में कभी न घबरावे,
पर्वत नदी श्मशान भयानक, अटवी से नही भय खावे।
रहे अडोल अकम्प निरन्तर, यह मन दृढतर बन जावे,
इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग मे, सहनशीलता दिखलावे ।।८।।

सुखी रहे सब जीव जगत के, कोई कभी न घबरावे,
वैर, पाप, अभिमान छोड जग, नित्य नये मगल गावे।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की, दुष्कृत दुष्कर हो जावे,
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना, मनुज-जन्म फल सब पावे ॥९॥

इति भीति व्यापे नही जग मे, वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्म-निष्ठ होकर राजा भी, न्याय प्रजा का किया करे।
रोग मरी दुर्भिक्ष न फैले, प्रजा शान्ति से जिया करे,
परम अहिंसा धर्म जगत मे, फैल सर्व-हित किया करे ॥१०॥

फैले प्रेम परस्पर जग मे, मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहिं, कोई मुख से कहा करे।
वनकर सब 'युगवीर' हृदय से, देशोन्नतिरत रहा करे,
वस्तु-स्वरूप विचार खुशी से, निजानन्द मे रमा करे ॥११॥